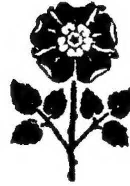
ॐ

प्रश्नोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ प्रथम संस्करण ३२५०
सं० १९९३ द्वितीय संस्करण ४०००

मूल्य ।≡)
(सात आना)

प्रस्तावना



प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है । इसका भाष्य आरम्भ करते हुए भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—'अथर्ववेदके मन्त्रभागमें कही हुई [मुण्डक] उपनिषद्के अर्थका ही विस्तारसे अनुवाद करनेवाली यह ब्राह्मणोपनिषद् आरम्भ की जाती है ।' इससे विदित होता है कि प्रश्नोपनिषद् मुण्डकोपनिषद्में कहे हुए विषयकी ही पूर्तिके लिये है । मुण्डकके आरम्भमें विद्याके दो भेद परा और अपराका उल्लेख कर फिर समस्त ग्रन्थमें उन्हींकी व्याख्या की गयी है । उसमें दोनों विद्याओंका सविस्तर वर्णन है और प्रश्नमें उनकी प्राप्तिके साधनस्वरूप प्राणोपासना आदिका निरूपण है । इसलिये इसे उसकी पूर्ति करनेवाली कहा जाय तो उचित ही है ।

इस उपनिषद्के छः खण्ड हैं, जो छः प्रश्न कहे जाते हैं । ग्रन्थके आरम्भमें सुकेशा आदि छः ऋषिकुमार मुनिवर पिप्पलादके आश्रम-पर आकर उनसे कुछ पूछना चाहते हैं । मुनि उन्हें आज्ञा करते हैं कि अभी एक वर्ष यहाँ संयमपूर्वक रहो उसके पीछे जिसे जो-जो प्रश्न करना हो पूछना । इससे दो बातें ज्ञात होती हैं; एक तो यह कि शिष्यको कुछ दिन अच्छी तरह संयमपूर्वक गुरुसेवामें रहनेपर ही विद्याग्रहणकी योग्यता प्राप्त होती है, अकस्मात् प्रश्नोत्तर करके ही कोई यथार्थ तत्त्वको ग्रहण नहीं कर सकता; तथा दूसरी बात यह है कि गुरुको भी शिष्यकी बिना पूरी तरह परीक्षा किये विद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि अनधिकारीको किया हुआ उपदेश निरर्थक ही नहीं, कई बार हानिकर भी हो जाता है । इसलिये शिष्यके अधिकारका पूरी तरह विचारकर उसकी योग्यताके अनुसार ही उपदेश करना चाहिये ।

१

गुरुजीकी आज्ञानुसार उन मुनिकुमारोंने वैसा ही किया और फिर एक-एकने अलग-अलग प्रश्न कर मुनिवरके समाधानसे कृत-कृत्यता लाभ की। उन छहोंके पृथक-पृथक् संवाद ही इस उपनिषद्के छः प्रश्न हैं। उनमेंसे पहले प्रश्नमें रयि और प्राणके द्वारा प्रजापतिसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत्की उत्पत्तिका निरूपण किया गया है। प्रायः यह देखा ही जाता है कि प्रत्येक पदार्थ दो संयोग-धर्म-वाली वस्तुओंके संसर्गसे उत्पन्न होता है। उनमें भोक्ता या प्रधानको प्राण कहा गया है तथा भोग्य या गौणको रयि। ये दोनों जिसके आश्रित हैं उसे प्रजापति कहा गया है। इसी सिद्धान्तको लेकर भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें—जो कई प्रकारसे संसारके मूलतत्त्व माने जाते हैं—प्रजापति आदि दृष्टिका निरूपण किया गया है।

दूसरे प्रश्नमें स्थूलदेहके प्रकाशक और धारण करनेवाले प्राणका निरूपण है तथा एक आख्यायिकाद्वारा समस्त इन्द्रियोंकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता बतलायी है। तीसरे प्रश्नमें प्राणकी उत्पत्ति और स्थितिका विचार किया गया है। वहाँ बतलाया है कि जिस प्रकार पुरुषकी छाया होती है उसी प्रकार आत्मासे प्राणकी अभिव्यक्ति होती है और फिर जिस प्रकार सम्राट् भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अधिकारियोंकी नियुक्ति कर उनके अधिपतिरूपसे स्वयं स्थित होता है उसी प्रकार यह भी भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें अपने ही अङ्गभूत अन्य प्राणोंको नियुक्त कर स्वयं उनका शासन करता है। वहीं यह भी बतलाया है कि मरणकालमें मनुष्यके सङ्कल्पानुसार यह प्राण ही उसे भिन्न-भिन्न लोकोंमें ले जाता है तथा जो लोग प्राणके रहस्यको जानकर उसकी उपासना करते हैं वे ब्रह्मलोकमें जाकर क्रममुक्तिके भागी होते हैं।

चौथे प्रश्नमें स्वप्नावस्थाका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि उस समय सूर्यकी किरणोंके समान सब इन्द्रियाँ मनमें ही लीन हो जाती हैं, केवल प्राण ही जागता रहता है। वहाँ उसके भिन्न-भिन्न भेदोंमें गार्हपत्यादिकी कल्पना कर उसमें अग्निहोत्रकी

भावना की गयी है । उस अवस्थामें जन्म-जन्मान्तरोंकी वासनाओंके अनुसार मन ही अपनी महिमाका अनुभव करता है तथा जिस समय वह पित्तसंज्ञक सौर तेजसे अभिभूत होता है उस समय स्वप्नावस्थासे निवृत्त होकर सुषुप्तिमें प्रवेश करता है और आत्मामें ही लीन हो जाता है । आत्माका यह सोपाधिक स्वरूप ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आदि है; इसका अधिष्ठान परब्रह्म है। उसका ज्ञान प्राप्त होनेपर पुरुष उसीको प्राप्त हो जाता है ।

पाँचवें प्रश्नमें ओङ्कारका पर और अपर ब्रह्मके प्रतीकरूपसे वर्णन कर उसके द्वारा अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको क्रममुक्ति और परब्रह्मकी उपासना करनेवालेको परब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है तथा उसकी एक, दो या तीन मात्राओंकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले भिन्न-भिन्न फलोंका निरूपण किया है । फिर छठे प्रश्नमें सुकेशाके प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य पिप्पलादने मुक्तावस्थामें प्राप्त होनेवाले निरुपाधिक ब्रह्मका प्राणादि सोलह कलाओंके आरोपपूर्वक प्रत्यगात्मरूपसे निरूपण किया है । वहाँ भगवान् भाष्यकारने आत्माके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंकी कल्पनाओंका निरसन करते हुए बड़ा युक्तियुक्त विवेचन किया है । यही संक्षेपमें इस उपनिषद्का सार है ।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस उपनिषद्में प्रधानतया पर और अपर ब्रह्मविषयक उपासनाका ही वर्णन है तथा परब्रह्मकी अपेक्षा अपर ब्रह्मके स्वरूपका विशेष विवेचन किया गया है । परब्रह्मके स्वरूपका विशद और स्फुट निरूपण तो मुण्डकोपनिषद्में हुआ है । अतः इस उपनिषद्का उद्देश्य उस तत्त्वज्ञानकी योग्यता प्राप्त कराना है; यह हृदयभूमिको इस योग्य बनाती है कि उसमें तत्त्वज्ञानरूपी अङ्कुर जम सके । इसके अनुशीलनद्वारा हम वह योग्यता प्राप्त कर सकें—ऐसी भगवान्से प्रार्थना है ।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

चतुर्थ प्रश्न

पञ्चम प्रश्न

षष्ठ प्रश्न





पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

प्रश्नोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम् ।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवगण ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें । यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें । तथा स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे, परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तियों) के लिये चक्रके समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।



प्रथम प्रश्न



सम्बन्धभाष्य

मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते । ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुतये । एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च, न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति । ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च तत्कर्तव्यता स्यात् ।

अथर्वणमन्त्रोक्त [मुण्डकोपनिषद्के] अर्थका विस्तारपूर्वक अनुवाद करनेवाली यह ब्राह्मणभागीय उपनिषद् अब आरम्भ की जाती है*। इसमें जो ऋषियोंके प्रश्न और उत्तररूप आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है । यह विद्या आगे कहे प्रकारसे एक वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें रहना तथा तप आदि साधनोंसे युक्त पुरुषोंद्वारा ही ग्रहण की जानेयोग्य है तथा पिप्पलादके समान सर्वज्ञतुल्य आचार्योंसे ही कथन की जा सकती है, जिस किसीसे नहीं—इस प्रकार विद्याकी स्तुति की जाती है । तथा ब्रह्मचर्यादि साधनोंकी सूचना देनेसे उनकी कर्तव्यता भी प्राप्त होती है ।

सुकेशा आदिकी गुरूपसत्ति

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्म-

* दश उपनिषदोंमें प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य ये तीन अथर्ववेदीय हैं । इनमें मुण्डक मन्त्रभागकी है तथा शेष दो ब्राह्मणभागकी हैं ।

न्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

भरद्वाजनन्दन सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न हुआ सौर्यायणि (सूर्यका पोता), अश्वलकुमार कौसल्य, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके पोतेका पुत्र कबन्धी—ये अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवाले और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर छः ऋषिगण परब्रह्मके जिज्ञासु होकर भगवान् पिप्पलादके पास, यह सोचकर कि ये हमें उसके विषयमें सब कुछ बतला देंगे, हाथमें समिधा लेकर गये ॥ १ ॥

सुकेशा च नामतः, भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः; शैब्यश्च शिबेः अपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः; सौर्यायणी सूर्यस्तस्यापत्यं सौर्यः तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति, गार्ग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः; कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः; भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवो वैदर्भिः विदर्भे भवः; कबन्धी नामतः, कत्यस्यापत्यं कात्यायनः, विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः;

भरद्वाजका पुत्र भारद्वाज जो नामसे सुकेशा था; शिबिका पुत्र शैब्य जिसका नाम सत्यकाम था; सूर्यके पुत्रको 'सौर्य' कहते हैं उसका पुत्र सौर्यायणि जो गर्ग-गोत्रोत्पन्न होनेसे गार्ग्य कहलाता था—यहाँ 'सौर्यायणिः' के स्थानमें 'सौर्यायणी' [ईकारान्त] प्रयोग छान्दस है; अश्वलका पुत्र आश्वलायन जो नामसे कौसल्य था; भृगुका गोत्रज होनेसे भार्गव जो विदर्भदेशमें उत्पन्न होनेसे वैदर्भि कहलाता था तथा कबन्धी नामक कात्यायन—कत्यका [युवसंज्ञक[1]] अपत्य [यानी कत्यका प्रपौत्र] जिसका प्रपितामह अभी विद्यमान था। यहाँ 'युव' अर्थमें [गोत्रप्रत्ययान्त कात्य शब्दसे

१. 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४ । १ । १६३) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार पितामहके जीवित रहते जो पोतेके सन्तान होती है उसकी 'युवा' संज्ञा है।

युवप्रत्ययः । ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः—किं तत् यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः । कथम् ? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः ॥ १ ॥

'फक्' प्रत्यय होकर उसके स्थानमें 'आयन' आदेश] हुआ है । ये सब ब्रह्मपर अर्थात् अपर ब्रह्मको ही परभावसे प्राप्त हुए और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर अतएव ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण परब्रह्मका अन्वेषण करते हुए—वह ब्रह्म क्या है ? जो नित्य और विज्ञेय है; उसकी प्राप्तिके लिये ही हम यथेच्छ प्रयत्न करेंगे—इस प्रकार उसकी खोज करते हुए, उसे जाननेके लिये यह समझकर कि 'ये हमें सब कुछ बतला देंगे' आचार्यके पास गये । किस प्रकार गये ? [इसपर कहते हैं—] वे सब समित्पाणि अर्थात् जिन्होंने अपने हाथोंमें समिधाके भार उठा रक्खे हैं ऐसे होकर पूज्य आचार्य भगवान् पिप्पलादके समीप गये ॥ १ ॥



तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

कहते हैं, उस ऋषिने उनसे कहा—'तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे युक्त होकर एक वर्ष और निवास करो; फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना, यदि मैं जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा' ॥ २ ॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथापीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चास्तिक्यबुद्ध्यादरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ । ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषयं यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत । यदि तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः—अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते—सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

इस प्रकार अपने समीप आये हुए उन लोगोंसे पिप्पलाद ऋषिने कहा—'यद्यपि तुमलोग पहलेसे ही तपस्वी हो तो भी तप—इन्द्रियसंयम, विशेषतः ब्रह्मचर्यसे तथा श्रद्धा यानी आस्तिकबुद्धिसे आदरयुक्त होकर गुरुशुश्रूषामें तत्पर रह एक वर्ष और भी निवास करो । फिर अपनी इच्छानुसार अर्थात् जिसकी जैसी इच्छा हो उसका अतिक्रमण न करते हुए—जिसकी जिस विषयमें जिज्ञासा हो उसी विषयमें प्रश्न करना । यदि मैं तुम्हारे पूछे हुए विषयको जानता होऊँगा तो तुम्हें तुम्हारी पूछी हुई सब बात बतला दूँगा ।' यहाँ 'यदि' शब्द अपनी नम्रता प्रकट करनेके लिये है अज्ञान या संशय प्रदर्शित करनेके लिये नहीं, जैसा कि आगे प्रश्नका निर्णय करनेसे स्पष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

कबन्धीका प्रश्न—प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

तदनन्तर (एक वर्ष गुरुकुलवास करनेके पश्चात्) कात्यायन कबन्धीने गुरुजीके पास जाकर पूछा—'भगवन् ! यह सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?' ॥ ३ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान् । हे भगवन्कुतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते । अपरविद्याकर्मणोः समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक वर्ष पीछे कात्यायन कबन्धीने [गुरुजीके] समीप जाकर पूछा—'भगवन् ! यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?' अर्थात् अपरब्रह्मविषयक ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयका जो कार्य है और उसकी जो गति है वह बतलानी चाहिये । उसीके लिये यह प्रश्न किया गया है ॥ ३ ॥



रयि और प्राणकी उत्पत्ति

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

उससे उस पिप्पलाद मुनिने कहा—'प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले प्रजापतिने तप किया । उसने तप करके रयि और प्राण यह जोड़ा उत्पन्न किया [और सोचा—] ये दोनों ही मेरी अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे' ॥ ४ ॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच तदपाकरणायाह । प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्रक्ष्यामि

अपनेसे इस प्रकार प्रश्न करनेवाले कबन्धीसे उसकी शङ्का निवृत्त करनेके लिये पिप्पलाद मुनिने कहा—प्रजाकाम अर्थात् अपनी प्रजा रचनेकी इच्छावाले प्रजापतिने 'मैं सर्वात्मा होकर जगत्की रचना

इत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत ।

करूँ' इस प्रकारके विज्ञानसे सम्पन्न, यथोक्त कर्म करनेवाला (जगद्रचनामें उपयुक्त ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेवाला) तद्भावभावित (पूर्वकल्पीय प्रजापतित्वकी भावनासे सम्पन्न) और कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भरूपसे उत्पन्न होकर तथा रची जानेवाली सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्रजाका पति होकर जन्मान्तरमें भावना किये श्रुत्यर्थविषयक ज्ञानरूप तपको तपा अर्थात् उस ज्ञानका स्मरण किया ।

अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान् । रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारम् एतावग्नीषोमावत्त्रन्नभूतौ मे मम बहुधानेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर इस प्रकार तपस्या कर अर्थात् श्रुतिप्रकाशित ज्ञानका स्मरण कर उसने सृष्टिके साधनभूत मिथुन—जोड़ेको उत्पन्न किया । उसने रयि यानी सोमरूप अन्न और प्राण यानी भोक्ता अग्निको रचा, अर्थात् यह सोचकर कि ये भोक्ता और भोग्यरूप अग्नि और सोम मेरी नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे अण्डके उत्पत्तिक्रमसे सूर्य और चन्द्रमाको रचा ॥ ४ ॥

आदित्य और चन्द्रमामें प्राण और रयि-दृष्टि

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

निश्चय आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है। यह जो कुछ मूर्त्त (स्थूल) और अमूर्त्त (सूक्ष्म) है सब रयि ही है; अतः मूर्ति ही रयि है ॥ ५ ॥

तत्रादित्यो ह वै प्राणोऽत्ता अग्निः । रयिरेव चन्द्रमाः, रयिः एवान्नं सोम एव । तदेतदेकमत्ता चान्नं च, प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्, गुणप्रधानकृतो भेदः । कथम् ? रयिर्वा अन्नं वा एतत् सर्वम्; किं तद्यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्त्रन्नरूपे रयिरेव । तस्मात्प्रविभक्ताद् अमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात् ॥ ५ ॥

यहाँ निश्चयपूर्वक आदित्य ही प्राण अर्थात् भोक्ता अग्नि है और रयि ही चन्द्रमा है। रयि ही अन्न है और वह चन्द्रमा ही है। यह भोक्ता (अग्नि) और अन्न एक ही है। एक प्रजापति ही यह मिथुनरूप हो गया है, इसमें भेद केवल गौण और प्रधान भावका ही है। सो किस प्रकार ? [इसपर कहते हैं—] यह सब रयि—अन्न ही है। वह क्या है ? यह जो मूर्त्त यानी स्थूल है और जो अमूर्त्त यानी सूक्ष्म है वह मूर्त्त और अमूर्त्त भोक्ता-भोग्यरूप होनेपर भी रयि ही है। अतः इस प्रकार विभक्त हुए अमूर्त्तसे अन्य जो मूर्त्तरूप है वही रयि—अन्न है क्योंकि वह अमूर्त्त भोक्तासे भोगा जाता है ॥ ५ ॥

तथामूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चाद्यम् । कथम्—

इसी प्रकार अमूर्त्त प्राणरूप भोक्ता भी जो कुछ अन्न है वह सभी है। किस प्रकार—

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

जिस समय सूर्य उदित होकर पूर्व दिशामें प्रवेश करता है तो उसके द्वारा वह पूर्व दिशाके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है। इसी प्रकार जिस समय वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर दिशाओंको प्रकाशित करता है उससे भी वह उन सबके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

अथादित्य उदयन्नुद्गच्छन् प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन् यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति; तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान्प्राणान् प्राच्यानन्तर्भूतान् रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयतिः आत्मभूतान्करोति इत्यर्थः। तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत् सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान्सर्वदिक्स्थान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

जिस समय सूर्य उदित होकर—ऊपरकी ओर जाकर अर्थात् प्राणियोंके नेत्रोंका विषय होकर अपने प्रकाशसे पूर्व दिशामें प्रवेश करता है—उसे [अपने तेजसे] व्याप्त करता है; उसके द्वारा अपनी व्याप्तिसे वह उस (पूर्व दिशा) में स्थित सम्पूर्ण अन्तर्भूत प्राच्य प्राणोंको अपने अवभासरूप और सर्वत्र व्याप्त किरणोंमें व्याप्त होनेके कारण वह सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता यानी अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है, अर्थात् उन्हें आत्मभूत कर लेता है। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे और ऊपरकी ओर प्रवेश करता है अथवा अवान्तर दिशाओंको—कोणस्थ दिशाएँ अवान्तर दिशाएँ हैं उनको या अन्य सबको प्रकाशित करता है तो अपने प्रकाशकी व्याप्तिसे वह सम्पूर्ण—समस्त दिशाओंमें स्थित प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण कर लेता है ॥ ६ ॥



स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही प्रकट होता है। यही बात ऋक्ने भी कही है ॥ ७ ॥

स एषोऽत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स एवात्तोदयत उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन् । तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

वह यह भोक्ता प्राण वैश्वानर (समष्टि जीवरूप), सर्वात्मा और सर्वरूप है तथा सर्वमय होनेके कारण ही प्राण और अग्निरूप है। वह भोक्ता ही प्रतिदिन सम्पूर्ण दिशाओंको आत्मभूत करता हुआ उदित होता अर्थात् ऊपरकी ओर जाता है। यह ऊपर कही बात ही ऋक् अर्थात् मन्त्रद्वारा भी कही गयी है ॥ ७ ॥



विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

सर्वरूप, रश्मिवान्, ज्ञानसम्पन्न, सबके आश्रय, ज्योतिर्मय, अद्वितीय और तपते हुए सूर्यको [विद्वानोंने अपने आत्मारूपसे जाना है]। यह सूर्य सहस्रों किरणोंवाला, सैकड़ों प्रकारसे वर्तमान और प्रजाओंके प्राणरूपसे उदित होता है ॥ ८ ॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः । कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः ? सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधानेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूप—सर्वरूप, हरिण—किरणवान्, जातवेदस्—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है, परायण—सम्पूर्ण प्राणोंके आश्रय, ज्योतिः—सम्पूर्ण प्राणियोंके नेत्रस्वरूप, एक—अद्वितीय और तपते हुए यानी तपन-क्रिया करते हुए सूर्यको ब्रह्मवेत्ताओंने अपने आत्मस्वरूपसे जाना है । जिसे इस प्रकार जाना है वह कौन है ? जो यह सहस्ररश्मि—अनेकों किरणोंवाला और सैकड़ों यानी अनेक प्रकारके प्राणिभेदसे वर्तमान तथा प्रजाओंका प्राणरूप सूर्य उदित होता है ॥८॥

संवत्सरादिमें प्रजापति आदि दृष्टि

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नम् अमूर्तिश्च प्राणोऽत्तादित्यस्तदेकम् एतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजाः करिष्यत इति उच्यते—

यह जो चन्द्रमा—मूर्ति अर्थात् अन्न है और प्राण—भोक्ता अथवा सूर्य है यह एक ही जोड़ा सम्पूर्ण प्रजाको किस प्रकार उत्पन्न कर देगा ? इसपर कहते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सर ही प्रजापति है; उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका अवलम्बन करते हैं वे चन्द्रलोकपर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः आवागमनको प्राप्त होते हैं; अतः ये सन्तानेच्छु ऋषिलोग दक्षिण मार्गको ही प्राप्त होते हैं। [इस प्रकार] जो पितृयाण है वही रयि है ॥ ९ ॥

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरः तदनन्यत्वाद्रयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते। तत्कथम्? तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे याभ्यां दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान् विदधत्।

वह मिथुन ही संवत्सररूप काल है और वही प्रजापति है, क्योंकि संवत्सर उस मिथुनसे ही निष्पन्न हुआ है। चन्द्रमा और सूर्यसे निष्पन्न होनेवाली तिथि और दिन-रात्रिके समुदायका नाम ही संवत्सर है; अतः वह (संवत्सर) रयि और प्राणसे अभिन्न होनेके कारण मिथुनरूप ही कहा जाता है। सो किस प्रकार? उस संवत्सर-नामक प्रजापतिके दक्षिण और उत्तर दो अयन—मार्ग हैं। ये छः-छः मासवाले दो अयन प्रसिद्ध ही हैं, जिनसे कि सूर्य केवल कर्मपरायण और ज्ञानसंयुक्त कर्म-परायण पुरुषोंके पुण्यलोकोंका विधान करता हुआ दक्षिण तथा उत्तर मार्गोंसे गमन करता है।

कथम्? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति,

सो किस प्रकार? इसपर कहते हैं—उन ब्राह्मणादिमें जो ऋषिलोग

क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः, इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य। ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्ते "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १।२।१०) इति ह्युक्तम्।

निश्चयपूर्वक उस इष्ट और पूर्त्त यानो इष्टापूर्त्त इत्यादि कृतकी ही उपासना करते हैं—अकृतकी नहीं करते वे सर्वदा चान्द्रमस—चन्द्रमामें ही होनेवाले यानी मिथुनात्मक प्रजापतिके अंश रयि अर्थात् अन्नभूत लोकको ही जीतते हैं, क्योंकि चन्द्रलोक कृत (कर्म) रूप है। श्रुतिमें दूसरा 'तत्' शब्द क्रियाविशेषण है। वे वहाँ ही अपने कर्मका क्षय होनेपर फिर लौट आते हैं, जैसा कि "इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट (तिर्यगादि) लोकमें प्रवेश करते हैं" इस [मुण्डक श्रुति] में कहा है।

यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रम् इष्टापूर्तकर्मणैत ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितः चन्द्रः॥ ९॥

क्योंकि ऐसा है इसलिये ये सन्तानार्थी ऋषि—स्वर्गद्रष्टा गृहस्थलोग इष्ट और पूर्त्त कर्मोंद्वारा उनके फलरूपसे अन्नात्मक प्रजापति यानी चन्द्रलोकका ही निर्माण करते हैं; अतः वे अपने रचे हुए दक्षिण यानी दक्षिणायनमार्गसे उपलक्षित चन्द्रलोकको ही प्राप्त होते हैं। यह जो पितृयाण अर्थात् पितृयाणसे उपलक्षित चन्द्रलोक है वह निश्चय रयि—अन्न ही है॥ ९॥



अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

तथा तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याद्वारा आत्माकी खोज करते हुए वे उत्तरमार्गद्वारा सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं । यही प्राणोंका आश्रय है, यही अमृत है, यही अभय है और यही परा गति है । इससे फिर नहीं लौटते; अतः यही निरोधस्थान है । इस विषयमें यह [अगला] मन्त्र है—॥ १० ॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेः अंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते; केन ? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्मविषयया आत्मानं प्राणं सूर्यं जगतस्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वादित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति। एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमेतदमृतमविनाशि । अभयमत एव भयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिमय-

तथा उत्तरायणसे वे प्रजापतिके अंश भोक्ता प्राणको यानी आदित्यको प्राप्त होते है । किस साधनसे प्राप्त होते है ? तप अर्थात् इन्द्रियजयसे; विशेषतः ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापतितादात्म्यविषयक विद्यासे अर्थात् अपनेको स्थावर-जङ्गम जगत्के प्राण सूर्यरूपसे अनुसंधानकर यानी यह समझकर कि यह [सूर्य] ही मैं हूँ आदित्यलोकपर विजय पाते अर्थात् उसे प्राप्त होते हैं ।

निश्चय यही आयतन—सम्पूर्ण प्राणोंका सामान्य आयतन यानी आश्रय है । यही अमृत—अविनाशी है, अतः यह अभय—भयरहित है, चन्द्रमाके समान क्षय-वृद्धिरूप भययुक्त नहीं है तथा यही

वत् । एतत्परायणं परा गतिः विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञानवताम् । एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते यथेतरे केवलकर्मिण इति । यस्मादेषोऽविदुषां निरोधः । आदित्याद्धि निरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति । स हि संवत्सरः कालात्माविदुषां निरोधः । तत्तत्रास्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रः ॥ १० ॥

उपासकोंको और उपासनासहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी परा गति है । इस पदको प्राप्त होकर अन्य केवल कर्मपरायणोंके समान फिर नहीं लौटते, क्योंकि यह अविद्वानोंके लिये निरोध है, क्योंकि उपासनाहीन पुरुष आदित्यसे रुके हुए हैं;* ये लोग आदित्यरूप संवत्सर यानी अपने आत्मा प्राणको प्राप्त नहीं होते । यह कालरूप संवत्सर ही अविद्वानोंका निरोधस्थान है । तहाँ इस विषयमें यह श्लोक यानी मन्त्र प्रसिद्ध है ॥ १० ॥



आदित्यका सर्वाधिष्ठानत्व

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

अन्य कालवेत्तागण इस आदित्यको पाँच पैरोंवाला, सबका पिता, बारह आकृतियोंवाला, पुरीषी (जलवाला) और द्युलोकके परार्द्धमें स्थित बतलाते हैं तथा ये अन्य लोग उसे सर्वज्ञ और उस सात चक्र और छः अरेवालेमें ही इस जगत्को अर्पित बतलाते हैं ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते ।

पाँच ऋतुएँ इस संवत्सररूप आदित्यके मानो चरण हैं; इसलिये यह पञ्चपाद है, क्योंकि उन ऋतुओंसे यह चरणोंके समान

* अर्थात् वे आदित्यमण्डलको वेधकर नहीं जा सकते ।

हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना। पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य। तं द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वावयविकरणम् अस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्पर ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः पुरीषिणं पुरीषवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः।

घूमता रहता है। यह [पाँच ऋतुओंकी] कल्पना हेमन्त और शिशिरको एक मानकर की है। सबका उत्पत्तिकर्ता होनेके कारण उसका पितृत्व है, इसलिये उसे पिता कहा है। बारह महीने उसकी आकृतियाँ, अवयव या आकार हैं अथवा बारह महीनोंद्वारा उसका अवयवीकरण (विभाग) किया जाता है, इसलिये उसे द्वादशाकृति कहा है। तथा वह द्युलोक यानी अन्तरिक्षसे परे—ऊपरके स्थानरूप तीसरे स्वर्गलोकमें स्थित है और पुरीषी—पुरीषवान् अर्थात् जलवाला है—ऐसा कालज्ञ पुरुष कहते हैं।

अथ तमेवान्य इम उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि षडरे षडृतुमत्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति; अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति।

तथा ये अन्य कालवेत्ता पुरुष उसीको विचक्षण—निपुण यानी सर्वज्ञ बतलाते हैं तथा सप्त अश्वरूप सात चक्र और षडृतुरूप छः अरोंवाले उस निरन्तर गतिशील कालात्मामें ही रथकी नाभिमें अरोंके समान इस सम्पूर्ण जगत्को अर्पित—निविष्ट बतलाते हैं।

यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथापि

चाहे पञ्चपाद और द्वादश आकृतियोंवाला हो अथवा सात चक्र और छः अरोंवाला हो सभी प्रकार

संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिः चन्द्रादित्यलक्षणोऽपि जगतः कारणम् ॥ ११ ॥

चन्द्रमा और सूर्यरूपसे भी कालस्वरूप संवत्सरात्मक प्रजापति ही जगत्‌का कारण है ॥ ११ ॥

मासादिमें प्रजापाति आदि दृष्टि

यस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः स्वावयवे मासे कृत्स्नः परिसमाप्यते ।

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् आश्रित है वह संवत्सरनामक प्रजापति ही अपने अवयवरूप मासमें पूर्णतया परिसमाप्त हो जाता है—

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥१२॥

मास ही प्रजापति है । उसका कृष्णपक्ष ही रयि है और शुक्लपक्ष प्राण है । इसलिये ये [प्राणोपासक] ऋषिगण शुक्लपक्षमें ही यज्ञ किया करते हैं तथा दूसरे [अन्नोपासक] दूसरे पक्षमें यज्ञ करते है ॥ १२ ॥

मासो वै प्रजापतिर्यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकः । तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमाः । अपरो भागः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽत्ताग्निः । यस्माच्छुक्लपक्षात्मानं प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिन एत ऋषयः

मास ही उपर्युक्त लक्षणोंवाला मिथुनात्मक प्रजापति है । उस मासस्वरूप प्रजापतिका एक भाग—कृष्णपक्ष तो रयि—अन्न अथवा चन्द्रमा है तथा दूसरा भाग—शुक्लपक्ष ही प्राण—आदित्य अर्थात् भोक्ता अग्नि है । क्योंकि वे शुक्लपक्षस्वरूप प्राणको सर्वात्मक देखते हैं और उन्हें कृष्णपक्ष भी प्राणसे भिन्न दिखलायी नहीं देता इसलिये ये प्राणदर्शी

कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मात् । इतरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति । इतरस्मिन् कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि ॥ १२ ॥

ऋषिलोग कृष्णपक्षमें भी [उसे शुक्लपक्षरूप समझकर ही] अपना इष्ट—याग किया करते हैं । तथा दूसरे ऋषि प्राणका दर्शन नहीं करते; इसलिये वे सबको अदर्शनात्मक कृष्णपक्षरूप ही देखते हैं और शुक्लपक्षमें यागानुष्ठान करते हुए भी इतर यानी कृष्णपक्षमें ही करते हैं ॥ १२ ॥

दिन-रातका प्रजापतित्व

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

दिन-रात भी प्रजापति है । उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है । जो लोग दिनके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयुक्त होते हैं वे प्राणकी ही हानि करते हैं और जो रात्रिके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयोग करते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते । अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत् । तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत् । प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति

वह मासात्मक प्रजापति भी अपने अवयवरूप दिन-रात्रिमें समाप्त हो जाता है । पहलेकी तरह अहोरात्रि भी प्रजापति है—उसका भी दिन ही प्राण—भोक्ता यानी अग्नि है और पूर्ववत् रात्रि ही रयि है । वे लोग दिनरूप प्राणको ही क्षीण करते—निकालते—सुखाते अथवा अपनेसे पृथक् करके

वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति; के ? ये दिवाहनि रत्या रतिकारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मिथुनं मैथुनमाचरन्ति मूढाः । यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः । यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमित्ययमपि प्रासङ्गिको विधिः । प्रकृतं तूच्यते—सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः ॥ १३ ॥

नष्ट करते हैं । कौन ? जो कि मूढ होकर दिनके समय रति—रतिकी कारणस्वरूपा स्त्रीसे संयुक्त होते हैं, अर्थात् मिथुन यानी मैथुन करते हैं । क्योंकि ऐसी बात है इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये—यह प्रासङ्गिक प्रतिषेध प्राप्त होता है । तथा ऋतुकालमें जो रात्रिके समय रतिसे संयुक्त होते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है; अतः प्रशस्त होनेके कारण ऋतुकालमें ही स्त्रीगमन करना चाहिये—ऐसी यह प्रासङ्गिकी विधि है, अब प्रकृत विषय [अगले मन्त्रसे] कहा जाता है । वह अहोरात्रात्मक प्रजापति [इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर] व्रीहि और यव आदि अन्नरूपसे स्थित हुआ है ॥ १३ ॥



अन्नका प्रजापतित्व

एवं क्रमेण परिणम्य तत्—

इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर वह—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्न ही प्रजापति है; उसीसे वह वीर्य होता है और उस वीर्यहीसे यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है ॥ १४ ॥

अन्नं वै प्रजापतिः । कथम्? ततस्तस्माद्ध वै रेतो नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते ।

अन्न ही प्रजापति है । किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] उस अन्नसे ही प्रजाका कारणरूप रेत—पुरुषका वीर्य उत्पन्न होता है; और स्त्रीकी योनिमें सींचे गये उस वीर्यसे ही यह मनुष्यादिरूप प्रजा उत्पन्न होती है ।

यत्पृष्टं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति । तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्नासृग्रेतोद्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निर्णीतम् ॥१४॥

हे कबन्धिन्! तूने जो पूछा था कि यह सम्पूर्ण प्रजा कहाँसे उत्पन्न होती है? सो चन्द्रमा और आदित्यरूप मिथुनसे लेकर अहोरात्र-पर्यन्त क्रमसे अन्न, रक्त एवं वीर्यके द्वारा ही यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है—ऐसा निर्णय हुआ ॥१४॥

प्रजापतिव्रतका फल

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो भी उस प्रजापतिव्रतका आचरण करते हैं वे [कन्या-पुत्ररूप] मिथुनको उत्पन्न करते हैं । जिनमें कि तप और ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें सत्य स्थित है उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

तत्तत्रैवं सति ये गृहस्थाः— 'ह वै' इति प्रसिद्धस्मरणार्थौ

ऐसी स्थिति होनेके कारण जो गृहस्थ उस प्रजापतिव्रत—प्रजापतिके व्रतका आचरण करते हैं, यानी

निपातौ—तत्प्रजापतेर्व्रतं प्रजापतिव्रतमृतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम् । किम् ? ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं चोत्पादयन्ते । अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेव एष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि, ब्रह्मचर्यम्—ऋतौ अन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम्, येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव ॥१५॥

ऋतुकालमें स्त्रीगमन करते हैं—यहाँ 'ह' और 'वै' ये निपात प्रसिद्धका स्मरण दिलानेके लिये हैं—उन (ऋतुकालाभिगामियों) को यह दृष्ट फल मिलता है। क्या फल मिलता है ? वे मिथुन यानी पुत्र और कन्या उत्पन्न करते हैं। [इस दृष्ट फलके सिवा] उन इष्ट, पूर्त और दत्त कर्मकर्ताओंको, जिनमें कि स्नातकव्रतादि तप, ऋतुकालसे अन्य समय स्त्रीगमन न करनारूप ब्रह्मचर्य और असत्यत्यागरूप सत्य अव्यभिचरितरूपसे प्रतिष्ठित है यह अदृश्य फल मिलता है जो कि चन्द्रलोकमें स्थित पितृयाणरूप ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ तेषां केषामित्युच्यते—

किन्तु जो चन्द्रलोकसम्बन्धी ब्रह्मलोकके समान मलयुक्त और वृद्धिक्षय आदिसे युक्त नहीं है बल्कि सूर्यसे उपलक्षित उत्तरायणसंज्ञक विरज—विशुद्ध प्राणात्मभाव है वह उन्हें प्राप्त होता है; किन्हें प्राप्त होता है ? इसपर कहा जाता है—

उत्तरमार्गावलम्बियोंकी गति

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

जिनमें कुटिलता, अनृत और माया (कपट) नहीं है उन्हें यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

यथा गृहस्थानामनेकविरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि तथा न येषु जिह्मम् । यथा च गृहस्थानां क्रीडानर्मादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं तथा न येषु तत् । तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते । माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा । मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः । पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति ॥ १६ ॥

जिस प्रकार अनेकों विरुद्ध व्यवहाररूप प्रयोजनवाला होनेसे गृहस्थमें जिह्म—कुटिलता यानी वक्रता होना निश्चित है उस प्रकार जिनमें जिह्म नहीं है, गृहस्थोंमें जिस प्रकार क्रीडादि-निमित्तसे होनेवाला अनृत अनिवार्य है वैसा जिनमें अनृत नहीं है तथा जिनमें गृहस्थोंके समान मायाका भी अभाव है । अपने-आपको बाहरसे अन्य प्रकार प्रकट करते हुए जो अन्यथा कार्य करना है वही मिथ्याचाररूपा माया है । इस प्रकार जिन एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुओंमें, कोई निमित्त न रहनेके कारण, माया आदि दोष नहीं हैं उन्हें उनके साधनोंकी अनुरूपतासे ही यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है । इस प्रकार यह ज्ञान (उपासना) सहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी गति कही । पूर्वोक्त चन्द्रमारूप ब्रह्मलोक तो केवल कर्मठोंके लिये ही कहा है ॥ १६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न

भार्गवका प्रश्न—प्रजाके आधारभूत कौन-कौन देवगण हैं ?

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम्। तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं च अस्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमिति अयं प्रश्न आरभ्यते—

प्राण भोक्ता प्रजापति है—यह पहले कहा। उसका प्रजापतित्व और भोक्तृत्व इस शरीरमें ही निश्चित करना चाहिये—इसीलिये यह प्रश्न आरम्भ किया जाता है—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥ १॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'भगवन्! इस प्रजाको कितने देवता धारण करते हैं? उनमेंसे कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं? और कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ है?॥ १॥

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। हे भगवन् कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते। कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्रकाशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते। कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरणलक्षणानामिति॥ १॥

तदनन्तर उनसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'हे भगवन्! इस शरीररूप प्रजाको कितने देवता विधारण करते यानी विशेषरूपसे धारण करते हैं, तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंमें विभक्त हुए उन देवताओंमेंसे कौन इसे प्रकाशित करते हैं—अपने माहात्म्यको प्रकट करना ही प्रकाशन है—और इन भूत एवं इन्द्रिय देवताओंमेंसे कौन सर्वश्रेष्ठ यानी प्रधान है?'॥ १॥



शरीरके आधारभूत—आकाशादि

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

तब उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—वह देव आकाश है । वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक्, (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ) मन (अन्तः-करण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रियसमूह) [ये भी देव ही हैं] । वे सभी अपनी महिमाको प्रकट करते हुए कहते हैं—'हम ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करते हैं' ॥ २ ॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुः अग्निः आपः पृथिवीत्येतानि पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि च । कार्य-लक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभि-वदन्ति स्पर्धमाना अहं श्रेष्ठतायै ।

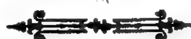
इस प्रकार पूछते हुए उस भार्गवसे पिप्पलादने कहा—निश्चय आकाश ही वह देव है तथा [उसके सहित] वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये शरीरको आरम्भ करनेवाले पाँच भूत एवं वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियाँ—ये कार्य (पञ्चभूत) और करण (इन्द्रिय) रूप देव अपनी महिमाको प्रकट करते हुए अपनी-अपनी श्रेष्ठताके लिये परस्पर स्पर्द्धापूर्वक कहते हैं ।

कथं वदन्ति ? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादम्

किस प्रकार कहते हैं ? [सो बतलाते हैं—] इस कार्यकरणके संघातरूप शरीरको, जिस प्रकार

इव स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः । मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः ॥ २ ॥

महलको स्तम्भ धारण करते हैं उसी प्रकार, आश्रय देकर उसे शिथिल न होने देकर हम स्पष्टरूपसे धारण करते हैं। उनमेंसे प्रत्येकका यही अभिप्राय रहता है कि इस संघातको अकेले मैंने ही धारण किया है ॥२॥



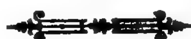
प्राणका प्राधान्य बतलानेवाली आख्यायिका

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

[एक बार] उनसे सर्वश्रेष्ठ प्राणने कहा—'तुम मोहको प्राप्त मत होओ; मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्त कर इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ ।' किन्तु उन्होंने उसका विश्वास न किया ॥ ३ ॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान् । मा मैवं मोहमापद्यथ अविवेकितया अभिमानं मा कुरुत यस्मादहमेव एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधात्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः कथमेतदेवमिति ॥ ३ ॥

इस प्रकार अभिमानयुक्त हुए उन देवोंसे वरिष्ठ—मुख्य प्राणने कहा—'इस प्रकार मोहको प्राप्त मत होओ अर्थात् अविवेकके कारण अभिमान मत करो, क्योंकि अपनेको पाँच भागोंमें विभक्त कर—अपने प्राणादि पाँच वृत्तिभेद कर मैं ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ ।' उसके ऐसा कहनेपर वे उसके कथनमें अश्रद्धालु—अविश्वासी ही रहे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥



सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

तब वह अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा । उसके ऊपर उठनेके साथ और सब भी उठने लगे, तथा उसके स्थित होनेपर सब स्थित हो जाते । जिस प्रकार मधुकरराजके ऊपर उठनेपर सभी मक्खियाँ ऊपर चढ़ने लगती हैं और उसके बैठ जानेपर सभी बैठ जाती है उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी [प्राणके साथ उठने और प्रतिष्ठित होने लगे] । तब वे सन्तुष्ट होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्दधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति । तस्मिन्नुत्क्रामति सत्यथानन्तरम् एवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्त उच्चक्रमिरे । तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवति अनुत्क्रामति सति सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन् ।

तब वह प्राण उनकी अश्रद्धालुताको देखकर क्रोधवश निरपेक्ष हो अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा । उसके ऊपर उठनेपर जो कुछ हुआ उसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—उसके ऊपर उठनेके अनन्तर ही चक्षु आदि अन्य सभी प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रमण करने यानी उठने लगे । तथा उस प्राणके ही स्थित होने—चुप होने यानी उत्क्रमण न करनेपर वे सभी स्थित हो जाते—चुपचाप बैठ जाते थे, जैसे कि इस लोकमें

तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति । यथायं दृष्टान्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्रद्धानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति ४

मधुमक्षिकाएँ अपने सरदार मधुकरराजके उठनेके साथ ही सब-की-सब उठ जाती हैं और उसके बैठनेपर सब-की-सब बैठ जाती हैं । जैसा यह दृष्टान्त है । वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी हो गये । तब वे वागादि अपने अविश्वासको छोड़कर और प्राणकी महिमाको जानकर सन्तुष्ट हो प्राणकी स्तुति करने लगे ॥४॥



कथम्—

किस प्रकार [स्तुति करने लगे, सो बतलाते हैं—]

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

यह प्राण अग्नि होकर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ है, यही इन्द्र और वायु है तथा यह देव ही पृथिवी, रयि और जो कुछ सत्, असत् एवं अमृत है, वह सब कुछ है ॥ ५ ॥

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति, तथैष सूर्यः सन् प्रकाशते, तथैष पर्जन्यः सन् वर्षति । किं च मघवानिन्द्रः सन् प्रजाः पालयति, जिघांसत्यसुररक्षांसि । एष वायुः

यह प्राण अग्नि होकर तपता—प्रज्वलित होता है । तथा यह सूर्य होकर प्रकाशित होता है और मेघ होकर बरसता है । यही मघवा—इन्द्र होकर प्रजाका पालन करता तथा असुर और राक्षसोंका वध करना चाहता है । यही आवह-

आवहप्रवहादिभेदः । किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चामृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना ॥५॥

प्रवह आदि भेदोवाला वायु है। अधिक क्या यह देव ही पृथिवी और रयि (चन्द्रमा) रूपसे सम्पूर्ण जगत्‌का धारक और पोषक है। सत्—स्थूल, असत्—सूक्ष्म और देवताओंकी स्थितिका कारणरूप अमृत भी यही है ॥ ५ ॥

प्राणका सर्वाश्रयत्व

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

जैसे रथकी नाभिमें अरे लगे रहते हैं उसी तरह ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण—ये सब प्राणमें ही स्थित हैं ॥ ६ ॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम् । तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्राः तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं च सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जगत्‌के स्थितिकालमें [प्रश्न० ६ । ४ में बतलाये जानेवाले] श्रद्धासे लेकर नामपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थ प्राणमें ही स्थित हैं। तथा ऋक्, यजुः और साम—तीन प्रकारके मन्त्र, उनसे निष्पन्न होनेवाला यज्ञ, सबका पालन करनेवाले क्षत्रिय और यज्ञादिकर्मोंके अधिकारी ब्राह्मण—ये सब भी प्राण ही हैं ॥ ६ ॥

किं च— | तथा—

प्राणकी स्तुति

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

हे प्राण ! तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भमें सञ्चार करता है, और तू ही [माता-पिताके समान आकृतिवाला होकर] जन्म ग्रहण करता है । यह [मनुष्यादि] सम्पूर्ण प्रजा तुझे ही बलि समर्पण करती है । क्योंकि तू समस्त इन्द्रियोंके साथ स्थित रहता है ॥ ७ ॥

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि, पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्प्रतिजायसे; प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वम् । सर्वदेहदेह्याकृतिच्छन्नेकः प्राणः सर्वात्मासीत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं हरन्ति । यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम्; भोक्ता हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम् ॥ ७ ॥

जो प्रजापति है वह भी तू ही है; तू ही गर्भमें सञ्चार करता है और माता-पिताके अनुरूप होकर तू ही जन्म लेता है । प्रजापति होनेके कारण तेरा माता-पितारूप होना तो पहलेसे ही सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण देह और देहीके मिषसे एक तू प्राण ही सर्वात्मा है । ये जो मनुष्यादि प्रजाएँ हैं, हे प्राण ! वे चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, जो तू कि चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ समस्त शरीरोंमें स्थित है; अतः वे तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, उनका ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि भोक्ता तू ही है, और अन्य सब तेरा ही भोज्य है ॥ ७ ॥



किं च— तथा—

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

तू देवताओंके लिये वह्नितम है, पितृगणके लिये प्रथम स्वधा है और अथर्वाङ्गिरस ऋषियों [यानी चक्षु आदि प्राणों] के लिये सत्य आचरण है ॥ ८ ॥

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां प्रापयितृतमः । पितृणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधान्नं सा देवप्रधानमपेक्ष्य प्रथमा भवति । तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः । किं चर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूतानामथर्वणां तेषामेव "प्राणो वाथर्वा" इति श्रुतेः, चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि ॥ ८ ॥

तू इन्द्रादि देवताओंके लिये वह्नितम—हवियोंको पहुँचानेवालोंमें श्रेष्ठ है, पितृगणकी प्रथम स्वधा है—नान्दीमुख श्राद्धमें पितरोंको जो अन्नमयी स्वधा दी जाती है वह देवप्रधान कर्मकी अपेक्षासे प्रथम है, उस प्रथम स्वधाको भी पितरोंको प्राप्त करानेवाला तू ही है—ऐसा इसका भावार्थ है । तथा ऋषियों यानी चक्षु आदि प्राणोंका, जो कि "प्राणो वाथर्वा" इस श्रुतिके अनुसार अङ्गिरस्—अङ्गके रसस्वरूप* अथर्वा हैं, उनका सत्य—अवितथ अर्थात् देहधारणादिमें उपकारी चरित—आचरण भी तू ही है ॥ ८ ॥



* प्राणोंके अभावमें शरीरको सूखते देखा गया है; अतः उन्हें अङ्गका रस कहते हैं ।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

हे प्राण ! तू इन्द्र है, अपने [संहारक] तेजके कारण रुद्र है, और [सौम्यरूपसे] सब ओरसे रक्षा करनेवाला है । तू ज्योतिर्गणका अधिपति सूर्य है और अन्तरिक्षमें सञ्चार करता है ॥ ९ ॥

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत् । स्थितौ च परि समन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण । त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

हे प्राण ! तू इन्द्र—परमेश्वर है; तू अपने तेज—वीर्यसे जगत्का संहार करनेवाला रुद्र है तथा स्थितिके समय अपने सौम्यरूपसे तू ही सब ओरसे संसारकी रक्षा—पालन करनेवाला है । तू ही उदय और अस्तके क्रमसे निरन्तर आकाशमें गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतिर्गणोंका अधिपति सूर्य है ॥ ९ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

हे प्राण ! जिस समय तू मेघरूप होकर बरसता है उस समय तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा यह समझकर कि 'अब यथेच्छ अन्न होगा' आनन्दरूपसे स्थित होती है ॥ १० ॥

यदा पर्जन्यो भूत्वाभिवर्षसि त्वमथ तदान्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

जिस समय तू मेघ होकर बरसता है उस समय यह सम्पूर्ण प्रजा अन्न पाकर प्राणन यानी प्राणक्रिया करती है—यह इसका

अथवा प्राण ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण चानन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यः तिष्ठन्ति कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥१०॥

भावार्थ है। अथवा [यों समझो कि] हे प्राण ! 'ते'—तेरा स्वात्मभूत यह प्रजावर्ग तेरे [दिये हुए] अन्नसे वृद्धिको प्राप्त होकर तेरी वृष्टिके दर्शनमात्रसे आनन्दरूप अर्थात् सुखको प्राप्त हुएके समान स्थित है। उसके आनन्दरूप होनेमें यह अभिप्राय है कि [उस वृष्टिसे उसे ऐसी आशा हो जाती है कि] 'अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा' ॥ १० ॥



किं च— इसके सिवा—

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥

हे प्राण ! तू व्रात्य, [संस्कारहीन] एकर्षिनामक अग्नि, भोक्ता और विश्वका सत्पति है, हम तेरा भक्ष्य देनेवाले हैं। हे वायो ! तू हमारा पिता है ॥ ११ ॥

प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुः अभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः। हे प्राणैकर्षिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाग्निः सन्नत्ता सर्वहविषाम्। त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य

हे प्राण ! सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे किसी अन्य संस्कारकर्ताका अभाव होनेके कारण तू व्रात्य (संस्कारहीन) है, तात्पर्य यह है कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है। तू आथर्वणोंका एकर्षि यानी एकर्षिनामक प्रसिद्ध अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियोंका भोक्ता है। तथा

सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः। साधुर्वा पतिः सत्पतिः।

तू ही समस्त विद्यमान जगत्‌का पति है इसलिये, अथवा [सन्तका] साधु पति होनेके कारण तू सत्पति है।

वयं पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः। त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वन्नोऽस्माकम्। अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम्। अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥ ११ ॥

हम तो तेरे आद्य—भक्ष्य हविके देनेवाले हैं। हे मातरिश्वन् ! तू हमारा पिता है। अथवा [यों समझो कि] तू 'मातरिश्वनः'—वायुका पिता है। अतः तुझमें सम्पूर्ण जगत्‌का पितृत्व सिद्ध होता है ॥ ११ ॥



किं बहुना—

अधिक क्या—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

तेरा जो स्वरूप वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मनमें व्याप्त है उसे तू शान्त कर। तू उत्क्रमण न कर ॥ १२ ॥

या ते त्वदीया तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वती, या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि सङ्कल्पादिव्यापारेण सन्तता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेन अशिवां मा कार्षीरित्यर्थः ॥१२॥

तेरा जो स्वरूप वक्तारूपसे बोलनेकी चेष्टा करता हुआ वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और सङ्कल्पादि व्यापारसे मनमें व्याप्त है उसे शिव—शान्त कर। उत्क्रमण न कर, अर्थात् उत्क्रमण करके उसे अशिव—अमङ्गलमय न कर ॥ १२ ॥



किं बहुना—

बहुत क्या—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥१३॥

यह सब तथा स्वर्गलोकमें जो कुछ स्थित है वह प्राणके ही अधीन है। जिस प्रकार माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा हमें श्री और बुद्धि प्रदान कर ॥ १३ ॥

अस्मिँल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किञ्चिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राण एवेशिता रक्षिता। अतो मातेव पुत्रानस्मान् रक्षस्व पालयस्व। त्वन्निमित्ता हि ब्राह्मयः क्षात्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्व इत्यर्थः।

इस लोकमें यह जो कुछ उपभोगकी सामग्री है वह सब प्राणके ही अधीन है तथा त्रिदिव अर्थात् तीसरे द्युलोक (स्वर्ग) में भी देवता आदिका उपभोगरूप जो कुछ वैभव है उसका भी ईश्वर—रक्षक प्राण ही है। अतः माता जिस प्रकार पुत्रोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारा पालन कर। ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी श्री—विभूतियाँ भी तेरे ही निमित्तसे हैं। वह श्री तथा अपनी स्थितिके निमित्तसे ही होनेवाली प्रज्ञा तू हमें प्रदान कर—ऐसा इसका भावार्थ है।

इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम्॥१३॥

इस प्रकार वागादि प्राणोंके स्तुति करनेसे जिसकी महिमा सर्वात्मरूपसे बतलायी गयी है वह प्राण ही प्रजापति और भोक्ता है—यह निश्चय हुआ ॥ १३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

तृतीय प्रश्न

कौसल्यका प्रश्न—प्राणके उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि किस प्रकार होते हैं ?

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'भगवन् ! यह प्राण कहाँसे उत्पन्न होता है ? किस प्रकार इस शरीरमें आता है ? तथा अपना विभाग करके किस प्रकार स्थित होता है ? फिर किस कारण शरीरसे उत्क्रमण करता है और किस तरह बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीरको धारण करता है ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वैरुपलब्धमहिमापि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष यथावधृतः प्राणो जायते । जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेण

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'पूर्वोक्त प्रकारसे चक्षु आदि प्राणों (इन्द्रियों) के द्वारा जिसका तत्त्व निश्चय हो गया है तथा जिसकी महिमाका भी अनुभव हो गया है वह प्राण संहत (सावयव) होनेके कारण कार्यरूप होना चाहिये । इसलिये हे भगवन् ! मैं पूछता हूँ कि जिस प्रकारका पहले निश्चय किया गया है वैसा यह प्राण किससे—किस कारणविशेषसे

आयात्यस्मिञ्शरीरे। किंनिमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः । प्रविष्टश्च शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति । केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमत उत्क्रामति । कथं बाह्यमधिभूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्मम् इति, धारयतीति शेषः ॥ १ ॥

उत्पन्न होता है ? तथा उत्पन्न होनेपर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरमें आता है ? अर्थात् इसका शरीरग्रहण किस कारणसे होता है ? और शरीरमे प्रविष्ट होकर अपनेको विभक्त कर—अपने अनेकों विभाग कर किस प्रकार उसमें स्थित होता है ? फिर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरसे उत्क्रमण करता है ? और किस प्रकार बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव विषयोंको धारण करता है ? तथा किस प्रकार अध्यात्म (देहेन्द्रियादि) को [धारण करता है ?] 'धारण करता है' यह वाक्य शेष है ॥१॥



एवं पृष्टः—

[कौसल्यद्वारा] इस प्रकार पूछे जानेपर—

पिप्पलाद मुनिका उत्तर

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

उससे पिप्पलाद आचार्यने कहा—'तू बड़े कठिन प्रश्न पूछता है । परन्तु तू [बड़ा] ब्रह्मवेत्ता है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ' ॥२॥

तस्मै स होवाचाचार्यः, प्राण एव तावद्दुर्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्मविदतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु ॥ २ ॥

उससे उस आचार्यने कहा—'प्रथम तो प्राण ही दुर्विज्ञेय होनेके कारण विषम प्रश्नका विषय है; तिसपर भी तू तो उसके भी जन्मादि पूछता है । अतः तू बड़े ही कड़े प्रश्न पूछ रहा है । परन्तु तू ब्रह्मिष्ठ—अत्यन्त ब्रह्मवेत्ता है, अतः मैं तुझसे प्रसन्न हूँ; सो तूने जो कुछ पूछा है वह तुझसे कहता हूँ, सुन ॥ २ ॥



प्राणकी उत्पत्ति

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है । जिस प्रकार मनुष्य-शरीरसे यह छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस आत्मामें प्राण व्याप्त है तथा यह मनोकृत सङ्कल्पादिसे इस शरीरमें आ जाता है ॥ ३ ॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते । कथमित्यत्र दृष्टान्तः । यथा लोक एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत् प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुष आततं समर्पितम्

यह उपर्युक्त प्राण आत्मा—परम पुरुष—अक्षर यानी सत्यसे उत्पन्न होता है । किस प्रकार उत्पन्न होता है ? इसमें यह दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार लोकमें शिर तथा हाथ-पाँववाले पुरुषरूप निमित्तके रहते हुए ही उससे होनेवाली छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस ब्रह्म यानी सत्य पुरुषमें यह छायास्थानीय मिथ्या तत्त्व

इत्येतत् । छायेव देहे मनोकृतेन मनःसङ्कल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतत्—वक्ष्यति हि "पुण्येन पुण्यम्" (प्र० उ० ३।७) इत्यादि; तदेव "सक्तः सह कर्मणा" (बृ० उ० ४।४।६) इति च श्रुत्यन्तरात्—आयाति आगच्छत्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

व्याप्त—समर्पित है। देहमें छायाके समान यह मनके कार्यसे यानी मनके सङ्कल्प और इच्छादिसे होनेवाले कर्मसे इस शरीरमें आता है; जैसा कि आगे "पुण्यसे पुण्यलोकको ले जाता है" आदि श्रुतिसे कहेंगे और यही बात "कर्मफलमें आसक्त हुआ पुरुष अपने कर्मके सहित [उसीको प्राप्त होता है]" इस अन्य श्रुतिसे भी कही गयी है ॥ ३ ॥



प्राणका इन्द्रियाधिष्ठातृत्व

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते । एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सम्राट् ही 'तुम इन-इन ग्रामोंमें रहो' इस प्रकार अधिकारियोंको नियुक्त करता है उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों (इन्द्रियों) को अलग-अलग नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधिकृतान्विनियुङ्क्ते । कथम् ? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्व इति । एवमेव यथा दृष्टान्तः एष मुख्यः प्राण इतरान्प्राणान्

जिस प्रकार लोकमें राजा ही ग्रामादिमें अधिकारियोंको नियुक्त करता है; किस प्रकार [नियुक्त करता है ? कि] तुम इन-इन ग्रामोंमें अधिष्ठान (निवास) करो । इस प्रकार, जैसा यह दृष्टान्त है वैसे ही, यह मुख्य प्राण भी अपने भेदस्वरूप

चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक् पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते ॥ ४ ॥

चक्षु आदि अन्य प्राणोंको अलग-अलग उनके स्थानोंके अनुसार स्थापित करता यानी नियुक्त करता है ॥ ४ ॥



पञ्च प्राणोंकी स्थिति

तत्र विभागः—

उनका विभाग इस प्रकार है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

वह [प्राण] पायु और उपस्थमें अपानको [नियुक्त करता है] और मुख तथा नासिकासे निकलता हुआ नेत्र एवं श्रोत्रमें स्वयं स्थित होता है तथा मध्यमें समान रहता है। यह [समानवायु] ही खाये हुए अन्नको समभावसे [शरीरमें सर्वत्र] ले जाता है। उस [प्राणाग्नि] से ही [दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र और एक रसना] ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन्, अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते। तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुःश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे, मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति

यह प्राण अपने भेद अपानको पायूपस्थमें—पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में मूत्र और पुरीष (मल) आदिको निकालते हुए स्थित करता यानी नियुक्त करता है। तथा मुख और नासिका इन दोनोंसे निकलता हुआ सम्राट्-स्थानीय प्राण चक्षुःश्रोत्रे—चक्षु और श्रोत्रमें स्थित रहता है। तथा

मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्यां समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः ।

प्राण और अपानके स्थानोंके मध्य नाभिदेशमें समान रहता है, जो खाये और पीये हुए पदार्थको सम करनेके कारण समान कहलाता है ।

एष हि यस्माद्यदेतद्भुतं भुक्तं पीतं चात्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनाद् अग्नेरौदर्याद्धृदयदेशं प्राप्तादेताः सप्तसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः । प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

क्योंकि यह समानवायु ही खायी-पीयी वस्तुको अर्थात् देहान्तर्वर्ती जठरानलमें डाले हुए अन्नको समभावसे [समस्त शरीरमें] पहुँचाता है इसलिये खान-पानरूप इन्धनसे हृदयदेशमें प्राप्त हुए इस जठराग्निसे ये शिरोदेशवर्तिनी सात अर्चियाँ—दीप्तियाँ निकलती हैं । तात्पर्य यह है कि रूपादि विषयोंके दर्शन-श्रवण आदिरूप प्रकाश प्राणसे ही निष्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

लिङ्गदेहकी स्थिति

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

यह आत्मा हृदयमें है । इस हृदयदेशमें एक सौ एक नाडियाँ हैं । उनमेंसे एक-एककी सौ शाखाएँ हैं और उनमेंसे प्रत्येककी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ हैं । इन सबमें व्यान सञ्चार करता है ॥६॥

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाश एष आत्मात्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा। अत्रास्मिन्हृदय एतदेकशतम् एकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनां भवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि। प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति।

यह आत्मा—आत्मासहित लिङ्गदेह अर्थात् जीवात्मा हृदयमें यानी कमलके-से आकारवाले मांसपिण्डसे परिच्छिन्न हृदयाकाशमें रहता है। इस हृदयदेशमें ये एक शत यानी एक ऊपर सौ (एक सौ एक) प्रधान नाडियाँ हैं। उनमेंसे प्रत्येक प्रधान नाडीके सौ-सौ भेद हैं और प्रधान नाडीके उन सौ-सौ भेदोंमेंसे प्रत्येकमें बहत्तर-बहत्तर सहस्र अर्थात् दो ऊपर सत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाडियाँ हैं।

आसु नाडीषु व्यानो वायुः चरति व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात् सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। सन्धिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्य उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति ॥६॥

इन सब नाडियोंमें व्यानवायु सञ्चार करता है। व्यापक होनेके कारण उसे 'व्यान' कहते हैं। जिस प्रकार सूर्यसे किरणें निकलती हैं उसी प्रकार हृदयसे निकलकर सब ओर फैली हुई नाडियोंद्वारा व्यान सम्पूर्ण देहको व्याप्त करके स्थित है। सन्धिस्थान, स्कन्धदेश और मर्मस्थलोंमें तथा विशेषतया प्राण और अपान वायुकी वृत्तियोंके मध्यमें इस (व्यानवायु)की अभिव्यक्ति होती है और यही पराक्रमयुक्त कर्मोंका करनेवाला है ॥ ६ ॥

प्राणोत्क्रमणका प्रकार

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

तथा [इन सब नाडियोंमेंसे सुषुम्ना नामकी] एक नाडीद्वारा ऊपरकी ओर गमन करनेवाला उदानवायु [जीवको] पुण्य-कर्मके द्वारा पुण्यलोकको और पापकर्मके द्वारा पापमय लोकको ले जाता है तथा पुण्य-पाप दोनों प्रकारके (मिश्रित) कर्मोंद्वारा उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है ॥ ७ ॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्य ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी तयैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः सञ्चरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम् । उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते ॥ ७ ॥

तथा उन एक सौ एक नाडियोंमेंसे जो सुषुम्नानाम्नी एक ऊर्ध्वगामिनी नाडी है उस एकके द्वारा ही ऊपरकी ओर जानेवाला तथा चरणसे मस्तकपर्यन्त सञ्चार करनेवाला उदानवायु [जीवात्माको] पुण्य कर्म यानी शास्त्रोक्त कर्मसे देवादि-स्थानरूप पुण्यलोकको प्राप्त करा देता है तथा उससे विपरीत पापकर्मद्वारा पापलोक यानी तिर्यग्योनि आदि नरकको ले जाता है और समानरूपसे प्रधान हुए पुण्य-पापरूप दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा वह उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है । यहाँ 'नयति' इस क्रियाकी सर्वत्र अनुवृत्ति होती है ॥ ७ ॥



बाह्य प्राणादिका निरूपण

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

निश्चय आदित्य ही बाह्य प्राण है । यह इस चाक्षुष (नेत्रेन्द्रियस्थित) प्राणपर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है । पृथिवीमें जो देवता है वह पुरुषके अपानवायुको आकर्षण किये हुए है । इन दोनोंके मध्यमें जो आकाश है वह समान है और वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युद्गच्छति । एष ह्येनम् आध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः। तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्य अपानमपानवृत्तिमवष्टभ्याकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः । अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोद्गच्छेत् ।

यह प्रसिद्ध आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है, वही यह उदित होता है—ऊपरकी ओर जाता है और यही इस आध्यात्मिक चाक्षुष (नेत्रस्थित) प्राणको—चक्षुमें जो हो उसे चाक्षुष कहते हैं—प्रकाशसे अनुगृहीत करता हुआ अर्थात् रूपकी उपलब्धिमें नेत्रको प्रकाश देता हुआ [उदित होता है] । तथा पृथिवीमें जो उसका प्रसिद्ध अभिमानी देवता है वह पुरुषके अपान अर्थात् अपानवृत्तिका अवष्टम्भ—आकर्षण करके यानी उसे अपने अधीन कर [स्थित रहता है] । तात्पर्य यह है कि नीचेकी ओर आकर्षणद्वारा उसपर अनुग्रह करता हुआ स्थित रहता है । नहीं तो, शरीर अपने भारीपनके कारण गिर जाता अथवा अवकाश मिलनेके कारण उड़ जाता ।

यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुः आकाश उच्यते; मञ्चस्थवत् । स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यर्थः । समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात् । सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद् व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यभिप्रायः ।८।

इन द्युलोक और पृथिवीके अन्तरा—मध्यमें जो आकाश है उसमें रहनेवाला वायु भी [लक्षणावृत्तिसे 'मञ्च' कहे जानेवाले] मञ्चस्थ व्यक्तियोंके समान आकाश कहलाता है । वही 'समान' है, अर्थात् समानवायुको अनुगृहीत करता हुआ स्थित है, क्योंकि मध्य-आकाशमें स्थित होना—यह समानवायुके लिये भी [बाह्य वायुकी तरह] साधारण है* । तथा साधारणतया जो बाह्य वायु है वह व्यापकत्वमें [शरीरके भीतर व्याप्त हुए व्यानवायुसे] समानता होनेके कारण व्यान है अर्थात् व्यानपर अनुग्रह करता हुआ वर्तमान है ॥ ८ ॥



तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

लोकप्रसिद्ध [आदित्यरूप] तेज ही उदान है। अतः जिसका तेज (शारीरिक ऊष्मा) शान्त हो जाता है वह मनमें लीन हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको [अथवा पुनर्जन्मके हेतुभूत मृत्युको] प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

---

* समानवायु शरीरान्तर्वर्ती आकाशके मध्यमें रहता है और बाह्य वायु द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यवर्ती आकाशके बीच रहता है; इस प्रकार मध्य आकाशमें स्थित होना—यह दोनोंके लिये एक-सी बात है ।

यद्बाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीर उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः। यस्मात्तेजःस्वभावो बाह्यतेजोऽनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति; उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः, तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात्। स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। कथम्? सहेन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः ॥ ९ ॥

जो [आदित्यसंज्ञक] प्रसिद्ध बाह्य सामान्य तेज है वही शरीरमें उदान है; तात्पर्य यह है कि वही अपने प्रकाशसे उदान-वायुको अनुगृहीत करता है। क्योंकि उत्क्रमण करनेवाला [उदान-वायु] तेजःस्वरूप है—बाह्य तेजसे अनुगृहीत होनेवाला है इसलिये जिस समय लौकिक पुरुष उपशान्ततेजा होता है अर्थात् जिसका स्वाभाविक तेज शान्त हो गया है ऐसा होता है उस समय उसे क्षीणायु—मरणासन्न समझना चाहिये। वह पुनर्भव यानी देहान्तरको प्राप्त होता है। किस प्रकार प्राप्त होता है? [इसपर कहते हैं—] मनमें लीन—प्रविष्ट होती हुई वागादि इन्द्रियोंके सहित [वह देहान्तरको प्राप्त होता है] ॥ ९ ॥



मरणकालिक संकल्पका फल

मरणकाले— मरणकालमें—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

इसका जैसा चित्त [संकल्प] होता है उसके सहित यह प्राणको प्राप्त होता है। तथा प्राण तेजसे (उदानवृत्तिसे) संयुक्त हो [उस भोक्ताको] आत्माके सहित संकल्प किये हुए लोकको ले जाता है ॥ १० ॥

यच्चित्तो भवति तेनैव चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति । मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः । तदाभिवदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति ।

इसका जैसा चित्त होता है उस चित्त—संकल्पके सहित ही यह जीव इन्द्रियोंके सहित प्राण अर्थात् मुख्य प्राणवृत्तिको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि मरणकालमें यह प्रक्षीण इन्द्रियवृत्तिवाला होकर मुख्य प्राण-वृत्तिसे ही स्थित होता है । उसी समय जातिवाले कहा करते हैं कि 'अभी श्वास लेता है—अभी जीवित है' इत्यादि ।

स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्सहात्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशाद्यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति ॥ १० ॥

वह प्राण ही तेज अर्थात् उदान वृत्तिसे सम्पन्न हो आत्मा—भोक्ता स्वामीके साथ [सम्मिलित होता है] । तथा उदानवृत्तिसे संयुक्त हुआ वह प्राण ही उस भोक्ता जीवको उसके पाप-पुण्यमय कर्मोंके अनुसार यथासङ्कल्पित अर्थात् उसके अभिप्रायानुसारी लोकोंको ले जाता—प्राप्त करा देता है ॥ १० ॥



य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

जो विद्वान् प्राणको इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती । वह अमर हो जाता है इस विषयमें यह श्लोक है ॥ ११ ॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः

जो कोई विद्वान् पुरुष इस प्रकार उपर्युक्त विशेषणोंसे विशिष्ट

प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलम् ऐहिकमामुष्मिकं चोच्यते । न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते छिद्यते । पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतयामृतोऽमरणधर्मा भवति तदेतस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥ ११ ॥

प्राणको उसके उत्पत्ति आदिके सहित जानता है उसके लिये यह लौकिक और पारलौकिक फल बतलाया जाता है—इस विद्वान्‌की पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा हीन—उच्छिन्न अर्थात् नष्ट नहीं होती तथा शरीरके पतित होनेपर प्राणसायुज्यको प्राप्त हो जानेके कारण वह अमृत—अमरणधर्मा हो जाता है । इस विषयमें संक्षेपसे बतलानेवाला यह श्लोक यानी मन्त्र है—॥ ११ ॥



उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते
विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान, व्यापकता एवं बाह्य और आध्यात्मिक भेदसे पाँच प्रकार स्थिति जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है—अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्यायतिमागमनं मनोकृतेनास्मिन् शरीरे स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु विभुत्वं च स्वाम्यमेव सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनं बाह्यमादित्यादिरूपेण

प्राणकी परमात्मासे उत्पत्ति, *आयति*—मनके सङ्कल्पसे इस शरीरमें आगमन, स्थान—पायु-उपस्थादिमें स्थित होना, विभुत्व—सम्राट्के समान प्रभुत्व यानी प्राणके वृत्तिभेदको पाँच प्रकारसे स्थापित करना, तथा आदित्यादि-

अध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेण अवस्थानं विज्ञायैवं प्राणममृतम् अश्नुत इति विज्ञायामृतमश्नुत इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

रूपसे बाह्य और चक्षु आदिरूपसे आन्तरिक स्थिति—इस प्रकार प्राणको जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'विज्ञायामृतमश्नुते' इस पदकी द्विरुक्ति प्रश्नार्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १२ ॥



इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥



चतुर्थ प्रश्न



गार्ग्यका प्रश्न—सुषुप्तिमें कौन सोता है और कौन जागता है ?

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे सूर्यके पौत्र गार्ग्यने पूछा—'भगवन् ! इस पुरुषमें कौन [इन्द्रियाँ] सोती हैं ? कौन इसमें जागती हैं ? कौन देव स्वप्नोंको देखता है ? किसे यह सुख अनुभव होता है ? तथा किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम्; अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचरमतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते ।

तदनन्तर उनसे सौर्यायणी गार्ग्यने पूछा । उपर्युक्त तीन प्रश्नोंमें अपरा विद्याके विषय व्याकृताश्रित साध्यसाधनरूप अनित्य संसारका निरूपण समाप्त कर अब साध्यसाधनसे अतीत तथा प्राण, मन और इन्द्रियोंके अविषय, परविद्यावेद्य, शिव, शान्त, अविकारी, अक्षर, सत्य और बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा पुरुषनामक तत्त्वका वर्णन करना है; इसीलिये आगेके तीन प्रश्नोंका आरम्भ किया जाता है ।

तत्र सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपास्तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्तीत्युक्तं द्वितीये मुण्डके; के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते ? कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैव अपियन्ति ? किंलक्षणं वा तद्क्षरमिति ? एतद्विवक्षयाधुना प्रश्नान् उद्भावयति—

तहाँ, द्वितीय मुण्डकमें यह बात कही गयी है कि 'अच्छी तरह प्रज्वलित हुए अग्निसे स्फुलिङ्गों (चिनगारियों) के समान जिस पर अक्षरसे सम्पूर्ण भाव पदार्थ उत्पन्न होते और उसीमें लीन हो जाते हैं' इत्यादि; सो उस अक्षर परमात्मासे अभिव्यक्त होनेवाले वे सम्पूर्ण भाव कौन-से हैं ? उससे विभक्त होकर वे किस प्रकार उसीमें लीन होते हैं ? तथा वह अक्षर किन लक्षणोंवाला है ? यह सब बतलानेके लिये अब श्रुति आगेके प्रश्न उठाती है—

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरःपाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति स्वव्यापारादुपरमन्ते कानि चास्मिन् जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति। कतरःकार्यकरणलक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति ? स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम्। तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन

भगवन् ! शिर और हाथ-पैरोंवाले इस पुरुषमें कौन इन्द्रियाँ सोती—निद्रा लेती अर्थात् अपने व्यापारसे उपरत होती हैं ? तथा कौन इसमें जागती यानी जागरण—अनिद्रावस्था अर्थात् अपना व्यापार करती हैं ? कार्य-करणरूप [यानी देहेन्द्रियरूप] देवोंमेंसे कौन देव स्वप्नोंको देखता है ? जाग्रद्दर्शनसे निवृत्त हुए जीवका जो अन्तःकरणमें जाग्रत्के समान विषयोंको देखना है उसे स्वप्न कहते हैं। सो यह कार्य कोई कार्यरूप देव निष्पन्न करता

निर्वर्त्यते किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः ।

है, अथवा करणरूप देव ? यह इसका अभिप्राय है ।

उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति । तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापाराद् उपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः । मधुनि रसवत्समुद्रप्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः ।

तथा जाग्रत् और स्वप्नका व्यापार समाप्त हो जानेपर जो प्रसन्न, अनायासरूप एवं निर्बाध सुख होता है वह भी किसे होता है ? उस समय जाग्रत् और स्वप्नके व्यापारसे उपरत होकर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भली प्रकार एकीभूत होकर किसमें स्थित होती हैं ? अर्थात् मधुमें रसोंके समान तथा समुद्रमें प्रविष्ट हुई नदी आदिके समान विवेचनके (पृथक्-प्रतीतिके) अयोग्य होकर वे किसमें भली प्रकार प्रतिष्ठित अर्थात् सम्मिलित हो जाती हैं ?

ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत् स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः ।

शङ्का—[काम करनेके अनन्तर] छोड़े हुए दराँती आदि करणों (औजारों) के समान इन्द्रियाँ भी अपने-अपने व्यापारसे निवृत्त होकर अलग-अलग अपनेमें ही स्थित हो जाती हैं—ऐसा समझना ठीक ही है । फिर प्रश्नकर्ताको सोये हुए पुरुषोंकी इन्द्रियोंके किसीमें एकीभाव हो जानेकी आशङ्का कैसे प्राप्त हो सकती है ?

युक्तैव त्वाशङ्का । यतः संहतानि करणानि स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात् स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चित्संगतिर्न्याय्येति तस्माद् आशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम् । अत्र तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोस्तद्विशेषं बुभुत्सोः स को नु स्यादिति कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

समाधान–यह आशङ्का तो उचित ही है, क्योंकि भूतोंके संघातसे उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ अपने स्वामीके लिये प्रवृत्त होनेवाली होनेसे जाग्रत्कालमें भी परतन्त्र हो हैं; अतः सुषुप्तिमें भी उन संहत इन्द्रियोंका परतन्त्ररूपसे ही किसीमें मिलना उचित है। इसलिये यह प्रश्न आशङ्काके अनुरूप ही है। यहाँ पूछनेवालेका यह प्रश्न कि 'वह कौन है ?' 'वे सब किसमें प्रतिष्ठित होती हैं ?' सुषुप्ति और प्रलयकालमें जिसमें यह कार्य-करणका संघात लीन होता है उसकी विशेषता जाननेके लिये है ॥ १ ॥



इन्द्रियोंका लयस्थान आत्मा है

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

तब उससे उस (आचार्य) ने कहा—'हे गार्ग्य ! जिस प्रकार सूर्यके अस्त होनेपर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डलमें ही एकत्रित हो जाती हैं और उसका उदय होनेपर वे फिर फैल जाती हैं। उसी प्रकार वे सब [इन्द्रियाँ] परमदेव मनमें एकीभावको प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और न कोई चेष्टा करता है। तब उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

तस्मै स होवाचाचार्यः—शृणु हे गार्ग्य यत्त्वया पृष्टम्। यथा मरीचयो रश्मयोऽर्कस्य आदित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सर्वा अशेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूप एकीभवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति मरीचयस्तस्यैवार्कस्य ताः पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति विकीर्यन्ते। यथायं दृष्टान्तः, एवं ह वै तत्सर्वं विषयेन्द्रियादिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादिदेवानां मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनः तस्मिन्स्वप्नकाल एकीभवति।

आचार्यने उस प्रश्नकर्तासे कहा—हे गार्ग्य ! तूने जो पूछा है सो सुन—जिस प्रकार अर्क—सूर्यके अस्त—अदर्शनको प्राप्त होते समय सम्पूर्ण मरीचियाँ—किरणें उस तेजोमण्डल—तेजःपुञ्जरूप सूर्यमें एकत्रित हो जाती हैं अर्थात् अविवेचनीयता-अविशेषता-को प्राप्त हो जाती हैं, तथा उसी सूर्यके पुनः उदित होनेके समय—उससे निकलकर फैल जाती हैं; जैसा यह दृष्टान्त है उसी प्रकार वह विषय और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण समूह स्वप्नकालमें परम—प्रकृष्ट देव—द्योतनवान् मनमें—चक्षु आदि देव (इन्द्रियाँ) मनके अधीन हैं, इसलिये मन परमदेव है, उसमें एक हो जाता है। अर्थात् सूर्य-

मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति । जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरन्ति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठन्ते ।

मण्डलमें किरणोंके समान उससे अभिन्नताको प्राप्त हो जाता है। तथा [उदित होते हुए] सूर्यमण्डलसे किरणोंके समान वे (इन्द्रियाँ) जागनेकी इच्छावाले पुरुषके मनसे ही फिर फैल जाती हैं; अर्थात् अपने व्यापारके लिये प्रवृत्त हो जाती हैं।

यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मनसि एकीभूतानीव करणव्यापाराद् उपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन् स्वापकाल एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः ॥ २ ॥

क्योंकि निद्राकालमें शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिके साधनरूप श्रोत्रादि मनमें एकीभावको प्राप्त हुएके समान इन्द्रिय-व्यापारसे उपरत हो जाते हैं इसलिये उस निद्राकालमें वह देवदत्तादिरूप पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। उस समय लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥



सुषुप्तिमें जागनेवाले प्राण-भेद गार्हपत्यादि अग्निरूप हैं

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

[सुषुप्तिकालमें] इस शरीररूप पुरमें प्राणाग्नि ही जागते हैं। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन है तथा जो गार्हपत्यसे ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन (ले जाये जाने) के कारण आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु कारणेषु एतस्मिन्पुरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणा एव पञ्च वायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति। अग्निसामान्यं हि आह—गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः। कथमित्याह—यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निः आहवनीयः प्रणीयते प्रणयनात् प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः। तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयत इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत आहवनीयस्थानीयः प्राणः। व्यानस्तु हृदयाद् दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिणदिक्सम्बन्धादन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ॥ ३ ॥

इस पुर यानी नौ द्वारवाले देहमे श्रोत्रादि इन्द्रियोंके सो जानेपर प्राणाग्नि—प्राणादि पाँच वायु ही अग्निके समान अग्नि हैं, वे ही जागते हैं। अब अग्निके साथ उनकी समानता बतलाते हैं—यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। किस प्रकार है, सो बतलाते हैं—क्योंकि अग्निहोत्रके समय गार्हपत्य अग्निसे ही आहवनीयनामक दूसरा अग्नि [जिसमें कि हवन किया जाता है] सम्पन्न किया जाता है; अतः प्रणयन किये जानेके कारण 'प्रणीयतेऽस्मात्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गार्हपत्याग्नि 'प्रणयन' है। इसी प्रकार प्राण भी सोये हुए पुरुषकी अपानवृत्तिसे प्रणीत हुआ-सा ही मुख और नासिकाद्वारा सञ्चार करता है; अतः वह आहवनीयस्थानीय है। तथा व्यान हृदयके दक्षिण छिद्रद्वारा निकलनेके कारण दक्षिण-दिशाके सम्बन्धसे अन्वाहार्यपचन यानी दक्षिणाग्नि है ॥ ३ ॥

प्राणाग्निके ऋत्विक्

अत्र च होताग्निहोत्रस्य—

यहाँ [अगले वाक्यसे] अग्निहोत्रके होता (ऋत्विक्) का वर्णन किया जाता है—

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास ये मानो अग्निहोत्रकी आहुतियाँ हैं, उन्हें जो [शरीरकी स्थितिके लिये] समभावसे विभक्त करता है वह समान [ऋत्विक् है]; मन ही निश्चय यजमान है, और इष्टफल ही उदान है; वह उदान इस मनरूप यजमानको नित्यप्रति ब्रह्मके पास पहुँचा देता है ॥ ४ ॥

यद्यस्मादुच्छ्वासनिःश्वासौ अग्निहोत्राहुती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव त्वेतावाहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्निस्थानीयोऽपि होता चाहुत्योर्नेतृत्वात् । कोऽसौ स समानः । अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवनमेव । तस्माद्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वदा सर्वाणि

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास अग्निहोत्रकी आहुतियोंके समान हैं, अतः [इनमें और अग्निहोत्रकी आहुतियोंमें] समानरूपसे द्वित्व होनेके कारण जो वायु शरीरकी स्थितिके लिये इन दोनों आहुतियोंको साम्यभावसे सर्वदा चलाता है वह [पूर्वमन्त्रके अनुसार] अग्निस्थानीय होनेपर भी आहुतियोंका नेता होनेके कारण होता ही है। वह है कौन ? समान । अतः विद्वान्‌की निद्रा भी अग्निहोत्रका हवन ही है । इसलिये अभिप्राय यह है कि विद्वान्‌को अकर्मा नहीं मानना चाहिये । इसीसे

भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत इति हि वाजसनेयके ।

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है कि उस विद्वान्के सोनेपर भी सब भूत सर्वदा चयन (यागानुष्ठान) किया करते हैं ।

अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषु उपसंहृत्य बाह्यकरणानि विषयांश्च अग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते ।

इस अवस्थामें बाह्य इन्द्रियों और विषयोंको पञ्च प्राणरूप जागते हुए (प्रज्वलित) अग्निमें हवन कर मनरूप यजमान अग्निहोत्रके फल स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति जानेकी इच्छासे जागता रहता है । यजमानके समान भूत और इन्द्रियोंमें प्रधानतासे व्यवहार करने और स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति प्रस्थित होनेसे मन यजमानरूपसे कल्पना किया गया है ।

इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः । उदाननिमित्तत्वादिष्टफलप्राप्तेः । कथम् ? स उदानो मनआख्यं यजमानं स्वप्नवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति । अतो यागफलस्थानीय उदानः ॥ ४ ॥

उदानवायु ही इष्टफल यानी यज्ञका फल है, क्योंकि इष्टफलकी प्राप्ति उदानवायुके निमित्तसे ही होती है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] वह उदानवायु इस मन नामवाले यजमानको स्वप्न-वृत्तिसे भी गिराकर नित्यप्रति सुषुप्तिकालमें स्वर्गके समान अक्षर-ब्रह्मको प्राप्त करा देता है । अतः उदान यागफलस्थानीय है ॥ ४ ॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो

इस प्रकार विद्वान्को श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत होनेके समयसे

भवति तावत्सर्वयागफलानुभव एव नाविदुषामिवानर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते। न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वपन्ते प्राणाग्नयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते। समानं हि सर्वप्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेव इयमुपपद्यते। यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति तदाह—

लेकर जबतक वह सोनेसे उठता है तबतक सम्पूर्ण यज्ञोंका फल ही अनुभव होता है, अज्ञानियोंके समान [उसकी निद्रा] अनर्थकी हेतु नहीं होती—ऐसा कहकर विद्वत्ताकी ही स्तुति की गयी है, क्योंकि केवल विद्वान्‌की ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ सोती और प्राणाग्नियाँ जागती हैं तथा उसीका मन जाग्रत् और सुषुप्तिमें स्वतन्त्रताका अनुभव करता हुआ रोज-रोज सुषुप्तिको प्राप्त होता है—ऐसी बात नहीं है। क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें जाना तो सभी प्राणियोंके लिये समान है। अतः यह विद्वत्ताकी स्तुति ही हो सकती है। अब, पहले जो यह पूछा था कि कौन देव स्वप्नोंको देखता है? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदर्शनका विवरण

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

इस स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसके द्वारा [जाग्रत्-अवस्थामें] जो देखा हुआ होता है उस देखे हुएको ही यह देखता है, सुनी-सुनी बातोंको ही सुनता है तथा दिशा-विदिशाओंमें अनुभव किये हुएको ही पुनः-पुनः अनुभव करता है । [अधिक क्या] यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किये, बिना अनुभव किये तथा सत् और असत् सभी प्रकारके पदार्थोंको देखता है और स्वयं भी सर्वरूप होकर देखता है ॥ ५ ॥

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः एतस्मिन् अन्तराल एव देवोऽर्करश्मिवत् स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषयविषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनम् अनुभवति प्रतिपद्यते ।

इस अवस्थामें यानी श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर और प्राणादि वायुओंके जागते रहनेपर सुषुप्तिकी प्राप्तिसे पूर्व इस [जाग्रत्-सुषुप्तिके] मध्यकी अवस्थामें यह देव, जिसने सूर्यकी किरणोंके समान श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अपनेमें लीन कर लिया है, स्वप्नावस्थामें अपनी महिमा यानी विभूतिको अनुभव करता है अर्थात् विषय-विषयीरूप अनेकात्मत्वको प्राप्त हो जाता है ।

मनःस्वातन्त्र्य-विचारः

ननु महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवति इत्युच्यते स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः ।

पूर्व०—मन तो विभूतिका अनुभव करनेमें अनुभव करनेवाले पुरुषका करण है; फिर यह कैसे कहा जाता है, कि वह स्वतन्त्रतासे अनुभव करता है, क्योंकि स्वतन्त्र तो क्षेत्रज्ञ ही है ।

नैष दोषः; क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि

सिद्धान्ती—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञकी स्वतन्त्रता मनरूप उपाधिके कारण है,

क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्ति वा । मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके "सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७)* इत्यादि । तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव ।

वास्तवमें क्षेत्रज्ञ तो स्वयं न सोता है और न जागता ही है । उसका जागना और सोना तो मनरूप उपाधिके ही कारण है—ऐसा बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है—"वह बुद्धिसे तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्नरूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है" इत्यादि । अतः विभूतिके अनुभवमें मनकी स्वतन्त्रता बतलाना न्याययुक्त ही है ।

पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्‌वस्थापनम्

मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति केचित् । तन्न, श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिः तेषाम् । यस्मात्स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽप्यामोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः । "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४ । ३ । ३१) "मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" । "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्"

किन्हीं-किन्हीका कथन है कि स्वप्नकालमें मनरूप उपाधिके सहित माननेमें क्षेत्रज्ञकी स्वयंप्रकाशतामें बाधा आवेगी सो ऐसी बात नहीं है । उनकी यह भ्रान्ति श्रुत्यर्थको न जाननेके ही कारण है, क्योंकि मन आदि उपाधिसे प्राप्त हुआ स्वयंप्रकाशत्व आदि व्यवहार भी मोक्षपर्यन्त सब-का-सब अविद्याके कारण ही है । जैसा कि "जहाँ कोई अन्य-सा हो वहीं अन्यको अन्य देख सकता है" "इस आत्माको विषयका संसर्ग ही नहीं होता" "जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया वहाँ किसे किसके द्वारा

* बृहदारण्यकोपनिषद्में इस श्रुतिका पाठ इस प्रकार है—'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा' ।

(बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतो मन्द-ब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न तु एकात्मविदाम् ।

देखे ?" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है । अतः यह शङ्का मन्द ब्रह्मज्ञानियोंकी ही है, एकात्म-वेत्ताओंकी नहीं ।

नन्वेवं सति "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । १४) इति विशेषणमनर्थकं भवति ।

पूर्व०—ऐसा माननेपर तो "इस स्वप्नावस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति है" इस वाक्यसे बतलाया हुआ आत्माका [स्वयंज्योति] विशेषण व्यर्थ हो जायगा ।

अत्रोच्यते; अत्यल्पमिद-मुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ० उ० २ । १ । १७) इत्यन्तर्हृदय-परिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत ।

सिद्धान्ती—इसपर हमें यह कहना है कि आपका यह कथन तो बहुत थोड़ा है । "यह जो हृदयके भीतरका आकाश है उसमें वह (आत्मा) शयन करता है" इस वाक्यसे आत्माका अन्तर्हृदयरूप परिच्छेद सिद्ध होनेसे तो उसका स्वयंप्रकाशत्व और भी बाधित हो जाता है ।

सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्यो-तिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भार-स्येति चेत् ।

पूर्व०—यद्यपि यह दोष तो ठीक ही है; तथापि स्वप्नमें केवलता (मनका अभाव हो जाने) के कारण आत्माके स्वयंप्रकाशत्वसे उसका आधा भार[1] तो हल्का हो ही जाता है ।

---

१. यहाँ भार हल्का होनेका अभिप्राय है स्वयप्रकाशताके प्रतिबन्धकका दूर होना ।

न; तत्रापि "पुरीतति शेते" (बृ० उ० २ । १ । १९) इति श्रुतेः पुरीतन्नाडीसम्बन्धादत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव ।

सिद्धान्ती–ऐसी बात नहीं है; उस अवस्थामें भी "पुरीतत् नाडीमें शयन करता है" इस श्रुतिके अनुसार जीवका पुरीतत् नाडीसे सम्बन्ध रहनेके कारण यह अभिप्राय मिथ्या ही है कि उसका आधा भार निवृत्त हो जाता है ।

कथं तर्हि "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । १४) इति ।

पूर्व०–तो फिर यह कैसे कहा गया है कि 'इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है ?'

अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेत् ।

मध्यस्थ–यदि ऐसा मानें कि अन्य शाखाकी श्रुति* होनेके कारण यहाँ उसकी कोई अपेक्षा नहीं है, तो ।

न; अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च । तस्माद्युक्ता स्वप्न आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम् । श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात् ।

पूर्व०–ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हमें सब श्रुतियोंके अर्थकी एकता ही इष्ट है । सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य एक आत्मा ही है; वही उन्हें बतलाना इष्ट है और वही जिज्ञासुओंको ज्ञातव्य है । इसलिये स्वप्नमें आत्माकी स्वयंप्रकाशताकी उपपत्ति बतलाना उचित है, क्योंकि श्रुति यथार्थ तत्त्वको ही प्रकाशित करनेवाली है ।

एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन

सिद्धान्ती–अच्छा तो अब सब प्रकारका अभिमान त्यागकर श्रुतिका

* क्योंकि यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है और 'अत्रायं पुरुषः' आदि श्रुति यजुर्वेदीय काण्व-शाखाकी है ।

वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितम्मन्यैः। यथा—हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते। एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूतवासनावति कर्मनिमित्ता वासनाविद्ययान्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते। तस्मात् साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेषु अप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति।

अर्थ श्रवण कर, क्योंकि अपनेको पण्डित माननेवाले सभी पुरुषोंको सौ वर्षमें भी श्रुतिका अर्थ समझमें नहीं आ सकता। जिस प्रकार [स्वप्नावस्थामें] हृदयाकाशमें और पुरीतत् नाडीमें शयन करनेवाले आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे सम्बन्ध न रहनेके कारण उससे पृथक् करके दिखलाया जा सकता है उसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्म आदिके कारण उद्भूत हुई वासनाओंसे युक्त होनेपर भी मनमें अविद्यावश प्राप्त हुई कर्मनिमित्तक वासनाको अन्य वस्तुके समान देखनेवाले तथा सम्पूर्ण कार्य-करणोंसे पृथग्भूत द्रष्टा आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बड़े गर्वीले तार्किकोंद्वारा भी निवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्यरूप वासनाओंसे भिन्नरूपसे स्थित है। इसलिये यह कहना बहुत ठीक है कि 'इन्द्रियोंके मनमें लीन हो जानेपर तथा मनके लीन न होनेपर आत्मा मनरूप होकर स्वप्न देखा करता है'।

विभूत्यनुभवप्रकारः

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते; यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रादिवासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते। तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयानुश‍ृणोतीव। देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया। तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः; अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः; एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसा अननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः। सच्च परमार्थोदकादि, असच्च मरीच्युदकादि। किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति

वह अपनी विभूतिका किस प्रकार अनुभव करता है? सो अब बतलाते हैं—जो मित्र या पुत्रादि उसका पहले देखा हुआ होता है उसीकी वासनासे युक्त हो वह पुत्र-मित्रादिकी वासनासे प्रकट हुए पुत्र या मित्रको मानो अविद्यासे देखता है—ऐसा समझता है। इसी प्रकार सुने हुए विषयको मानो उसीकी वासनासे सुनता है तथा दिग्देशान्तरोंमें यानी भिन्न-भिन्न दिशा और देशोंमें अनुभव किये हुए पदार्थोंको अविद्यासे पुनः-पुनः अनुभव-सा करता है। इसी प्रकार दृष्ट—इसी जन्ममें देखे हुए एवं अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरमें देखे हुए, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट पदार्थोंमें वासनाका होना सम्भव नहीं है, तथा श्रुत-अश्रुत, अनुभूत—जिसका इसी जन्ममें केवल मनसे अनुभव किया हो, अननुभूत—जिसका मनसे ही जन्मान्तरमें अनुभव किया हो, सत्—जल आदि वास्तविक पदार्थ और असत्—मृगजल आदि, अधिक क्या कहा जाय—ऊपर कहे हुए अथवा नहीं कहे हुए सभी पदार्थोंको

सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति ॥ ५ ॥

वह सर्वरूपसे मनोवासनारूप उपाधिवाला होकर देखता है । इस प्रकार यह सर्वेन्द्रियरूप मनोदेव स्वप्नोंको देखा करता है ॥ ५ ॥



सुषुप्तिनिरूपण

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

जिस समय यह मन तेज (पित्त) से आक्रान्त होता है उस समय यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता । उस समय इस शरीरमें यह सुख (ब्रह्मानन्द) होता है ॥ ६ ॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैः मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति । यदा मनो दार्वग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति । अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न पश्यति दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वात्

जिस समय वह मनरूप देव नाडीमें रहनेवाले पित्तनामक सौर तेजसे सब ओरसे अभिभूत अर्थात् जिसकी वासनाओंकी अभिव्यक्तिका द्वार लुप्त हो गया है—ऐसा हो जाता है उस समय इन्द्रियोंके सहित मनकी किरणोंका हृदयमें उपसंहार हो जाता है । जिस समय मन काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान निर्विशेष विज्ञानरूपसे सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करके स्थित होता है उस समय वह सुषुप्ति-अवस्थामें पहुँच जाता है । यहाँ अर्थात् इस समय यह मन नामवाला देव स्वप्नोंको नहीं देखता, क्योंकि

तेजसा । अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

उन्हें देखनेका द्वार तेजसे रुक जाता है । तदनन्तर इस शरीरमें यह सुख होता है; तात्पर्य यह कि जो निराबाध और सामान्यरूपसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त विज्ञान है वही स्फुट हो जाता है ॥ ६ ॥



एतस्मिन्कालेऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति । तेषु शान्तेषु आत्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—

इस समय अविद्या, काम और कर्मजनित शरीर एवं इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं । उनके शान्त हो जानेपर, उपाधियोंके कारण अन्यरूपसे भासित होनेवाला आत्मस्वरूप अद्वितीय, एक, शिव और शान्त हो जाता है । अतः पृथिवी आदि अविद्याकृत मात्राओं (विषयों) के अनुप्रवेशद्वारा इसी अवस्थाको दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया जाता है—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

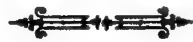
हे सोम्य ! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरेके वृक्षपर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार वह सब (कार्यकरणसंघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य प्रियदर्शन वयांसि

वह दृष्टान्त इस प्रकार है— हे सोम्य—हे प्रियदर्शन ! जिस

पक्षिणो वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति। एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं पर आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

प्रकार पक्षी अपने वासोवृक्ष—बसेरेके वृक्षकी ओर प्रस्थान करते यानी जाते हैं, यह जैसा दृष्टान्त है उसी प्रकार आगे कहा जानेवाला वह सब सर्वातीत आत्मा—अक्षरमें जाकर स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥



किं तत्सर्वम्—

वह सब क्या है ?

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

पृथिवी और पृथिवीमात्रा, (गन्धतन्मात्रा) जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयोग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करनेयोग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन करनेयोग्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहङ्कार और अहङ्कारका

विषय, चित्त और चेतनीय, तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और धारण करनेयोग्य वस्तु [ये सभी आत्मामें लीन हो जाते हैं] ॥ ८ ॥

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणा च पृथिवीमात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथापश्चापोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाकाशमात्रा च, स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः, तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक्च स्पर्शयितव्यं च, वाक्च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तथा चोक्तानि, मनश्च पूर्वोक्तम्, मन्तव्यं च तद्विषयः, बुद्धिश्च निश्चयात्मिका, बोद्धव्यं च तद्विषयः, अहङ्कारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहङ्कर्तव्यं च तद्विषयः, चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम्, चेतयितव्यं च

शब्दादि पाँच गुणोंसे युक्त स्थूल पृथिवी और उसकी कारणभूत पृथिवीतन्मात्रा यानी गन्धतन्मात्रा, तथा जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा एवं आकाश और शब्दतन्मात्रा; अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्मभूत; इसी प्रकार चक्षु-इन्द्रिय और उससे द्रष्टव्य रूप, श्रोत्र और श्रवणीय (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रस और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्शयितव्य, वाक्-इन्द्रिय और वक्तव्य (वचन), हाथ और उनसे ग्रहण करनेयोग्य पदार्थ, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय (मल), पाद और गन्तव्य स्थान; इस प्रकार वर्णन की हुई ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियाँ तथा पूर्वोक्त मन और उसका मन्तव्य विषय, निश्चयात्मिका बुद्धि और उसका बोद्धव्य विषय, अहङ्कार—अभिमानात्मक अन्तःकरण और उसका विषय अहङ्कर्तव्य, चित्त—चेतनायुक्त अन्तःकरण और उसका चेतयितव्य विषय,

तद्विषयः, तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम्, प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरणजातं पारार्थ्येन संहतं नामरूपात्मकमेतावदेव ॥ ८ ॥

तेज यानी त्वगिन्द्रियसे भिन्न प्रकाशविशिष्ट त्वचा और विद्योतयितव्य—उससे प्रकाशित होनेवाला विषय [चर्म] तथा प्राण जिसे सूत्रात्मक कहते हैं और उससे धारण किये जानेयोग्य अर्थात् ग्रथित होनेयोग्य [यह सब सुषुप्तिके समय आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है, क्योंकि] पर—आत्माके लिये संहत हुआ नामरूपात्मक सम्पूर्ण कार्य-करणजात इतना ही है ॥ ८ ॥



अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वकर्तृत्वेन इह अनुप्रविष्टम्—

इससे परे जो आत्मस्वरूप जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान इस शरीरमें कर्ता-भोक्तारूपसे अनुप्रविष्ट है—

सुषुप्तिमें जीवकी परमात्मप्राप्ति

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

यही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता (मनन करनेवाला), बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है । वह पर अक्षर आत्मामें सम्यक्प्रकारसे स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

यही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला, जानने-

कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्धयादीदं तु विजानातीति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः । पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः । स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

वाला, कर्ता, विज्ञानात्मा—जिनसे जाना जाता है वह बुद्धि आदि ज्ञानके साधनस्वरूप हैं, किन्तु यह आत्मा तो उन्हें जानता है इसलिये यह कर्ता कारकरूप विज्ञान है, यह तद्रूप—वैसे स्वभाववाला अर्थात् विज्ञातृस्वभाव है । तथा कार्य-करणसंघातरूप उपाधिमें पूर्ण होनेके कारण यह पुरुष है । जलमें दिखायी देनेवाला सूर्यका प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जलरूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर सूर्यमें प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह द्रष्टा, श्रोता आदिरूपसे बतलाया गया पुरुष जगत्के आधारभूत पर अक्षर आत्मामें सम्यक्रूपसे स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

तदेकत्वविदः फलमाह—

[अक्षरब्रह्मके साथ] उस विज्ञानात्माका एकत्व जाननेवालेको जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं—

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

हे सोम्य ! इस छायाहीन, अशरीरी, अलोहित, शुभ्र अक्षरको जो पुरुष जानता है वह पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है । वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है । इस सम्बन्धमें यह श्लोक (मन्त्र) है ॥ १० ॥

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते । स यो ह वै तत्सर्वैषणाविनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम्, अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरीरवर्जितम्, अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम्, यत एवमतः शुभ्रं शुद्धम्, सर्वविशेषणरहितत्वादक्षरम्, सत्यं पुरुषाख्यम्, अप्राणम् अमनोगोचरम्, शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति यस्तु सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किंचित् सम्भवति । पूर्वमविद्ययासर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाविद्यापनये सर्वो भवति तदा । तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥ १० ॥

उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि वह आगे बतलाये जानेवाले विशेषणोंसे युक्त पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है । सम्पूर्ण एषणाओंसे छूटा हुआ जो अधिकारी उस अच्छाय—तमोहीन, अशरीर—नामरूपमय सम्पूर्ण औपाधिक शरीरोंसे रहित, अलोहित—लोहितादि सब प्रकारके गुणोंसे हीन, और ऐसा होनेके कारण ही जो शुभ्र—शुद्ध, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित होनेके कारण अक्षर, पुरुषसंज्ञक सत्य, अप्राण, मनका अविषय, शिव, शान्त और सबाह्याभ्यन्तर अज परब्रह्मको जानता है, तथा जो सबका त्याग करनेवाला है, हे सोम्य ! वह सर्वज्ञ हो जाता है—उससे कुछ भी अज्ञात नहीं रह सकता । वह अविद्यावश पहले असर्वज्ञ था, फिर विद्याद्वारा अविद्याके नष्ट हो जानेपर वही [सर्वज्ञ और] सर्वरूप हो जाता है । इस विषयमें उपर्युक्त अर्थका संग्रह करनेवाला यह श्लोक यानी मन्त्र है ॥ १० ॥



अक्षरब्रह्मके ज्ञानका फल

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

हे सोम्य ! जिस अक्षरमें समस्त देवोंके सहित विज्ञानात्मा प्राण और भूत सम्यक् प्रकारसे स्थित होते हैं उसे जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११ ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेव आविवेशाविशतीत्यर्थः॥ ११ ॥

जिस अक्षरमें अग्नि आदि देवोंके सहित विज्ञानात्मा तथा चक्षु आदि प्राण और पृथिवी आदि भूत प्रतिष्ठित होते अर्थात् प्रवेश करते हैं, हे सोम्य—हे प्रियदर्शन ! उस अक्षरको जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥



इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥



पञ्चम प्रश्न

सत्यकामका प्रश्न—ओङ्कारोपासकको किस लोककी प्राप्ति होती है ?

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे शिबिपुत्र सत्यकामने पूछा—'भगवन् ! मनुष्योंमें जो पुरुष प्राणप्रयाणपर्यन्त इस ओङ्कारका चिन्तन करे, वह उस (ओङ्कारोपासना) से किस लोकको जीत लेता है ? ॥ १ ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ; अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोङ्कारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—

तदनन्तर उन आचार्य पिप्पलादसे शिबिके पुत्र सत्यकामने पूछा; अब इससे आगे पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिके साधनस्वरूप ओङ्कारोपासनाका विधान करनेकी इच्छासे आगेका प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है ।

स यः कश्चिद्ध वै भगवन् मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तद् अद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तम्, यावज्जीवमित्येतत्, ओङ्कारमभिध्यायीताभिमुख्येन चिन्तयेत्,

हे भगवन् ! मनुष्योंमें—मनुष्यजातिके बीच जो कोई आश्चर्यसदृश विरल पुरुष मरणपर्यन्त—यावज्जीवन ओङ्कारका अभिध्यान अर्थात् मुख्यरूपसे चिन्तन करे [वह किस लोकको जीत

बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशितब्रह्मभाव ओङ्कारे, आत्मप्रत्ययसन्तानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थदीपशिखासमोऽभिध्यानशब्दार्थः । सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसन्तोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः स एवं यावज्जीवव्रतधारणः कतमं वाव, अनेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोङ्काराभिध्यानेन कतमं स लोकं जयति ॥ १ ॥

लेता है ?] इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर और चित्तको एकाग्र कर उसे भक्तिके द्वारा जिसमें ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा की गयी है उस ओङ्कारमें इस प्रकार लगा देना कि आत्मप्रत्ययसन्ततिका विच्छेद न हो—भिन्न जातीय प्रतीतियोंसे उसमें बाधा न आवे तथा वह वायुहीन स्थानमें रक्खे हुए दीपककी शिखाके समान स्थित हो जाय—ऐसा ध्यान ही 'अभिध्यान' शब्दका अर्थ है । सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, शौच, सन्तोष, निष्कपटता आदि अनेक यम-नियमोंसे सम्पन्न होकर यावज्जीवन ऐसा व्रत धारण करनेवालेको भला कौन-सा लोक प्राप्त होगा ? क्योंकि ज्ञान और कर्मसे प्राप्त होनेयोग्य तो बहुत-से लोक हैं, उनमें उस ओङ्कारचिन्तनद्वारा वह किस लोकको जीत लेता है ? ॥ १ ॥



ओङ्कारोपासनासे प्राप्तव्य पर अथवा अपर ब्रह्म

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

उससे उस पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम ! यह जो ओङ्कार है वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है । अतः विद्वान् इसीके आश्रयसे उनमेंसे किसी एक [ब्रह्म] को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

इति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः—एतद्वै सत्यकाम ! एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोङ्कार एवोङ्कारात्मकमोङ्कारप्रतीकत्वात् । परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसावगाहितुम् । ओङ्कारे तु विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदति इत्येतदवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् तथापरं च ब्रह्म । तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते । तस्मादेवं विद्वानेतेनैवात्मप्राप्तिसाधनेनैवोङ्काराभिध्यानेन एकतरं परमपरं वान्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोङ्कारो ब्रह्मणः ॥ २ ॥

इस प्रकार पूछनेवाले सत्यकामसे पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म; पर अर्थात् सत्य अक्षर अथवा पुरुषसंज्ञक ब्रह्म तथा जो प्रथम विकाररूप प्राणनामक अपर ब्रह्म है वह ओङ्कार ही है; अर्थात् ओङ्काररूप प्रतीकवाला होनेसे ओङ्कारस्वरूप ही है । परब्रह्म शब्दादिसे उपलक्षित होनेके अयोग्य और सब प्रकारके विशेष धर्मोंसे रहित है; अतः इन्द्रिय-गोचरतासे अतीत होनेके कारण केवल मनसे उसका अवगाहन नहीं किया जा सकता । किन्तु विष्णु आदिकी प्रतिमास्थानीय ओङ्कारमें जिसमें कि भक्तिके द्वारा ब्रह्म-भावकी स्थापना की गयी है, ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है—यह बात शास्त्र-प्रमाणसे जानी जाती है । इसी प्रकार अपर ब्रह्म भी [ओङ्कारमें ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है] । अतः पर और अपर ब्रह्म ओङ्कार ही है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है । सुतरां, विद्वान् आत्मप्राप्तिके इस ओङ्कार-चिन्तनरूप साधनसे ही पर या अपर किसी एक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ओङ्कार ही ब्रह्मका सबसे अधिक समीपवर्ती आलम्बन है ॥ २ ॥

एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

वह यदि एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ध्यान करता है तो उसीसे बोधको प्राप्त कर तुरन्त ही संसारको प्राप्त हो जाता है । उसे ऋचाएँ मनुष्यलोकमें ले जाती हैं । वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर महिमाका अनुभव करता है ॥ ३ ॥

स यद्यप्योङ्कारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथापि ओङ्काराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति; एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोङ्कारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं गच्छति । किं तर्हि ? यद्यप्येवम् ओङ्कारमेवैकमात्राविभागज्ञ एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोङ्काराभिध्यानेनैव संवेदितः सम्बोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसम्पद्यते ।

यद्यपि वह ओङ्कारकी समस्त मात्राओंका ज्ञाता नहीं होता; तो भी ओङ्कारके चिन्तनके प्रभावसे वह विशिष्ट गतिको ही प्राप्त होता है । अर्थात् ओङ्कारकी शरणमें प्राप्त हुआ पुरुष इसके एकांश ज्ञानरूप दोषसे कर्म और ज्ञान दोनोंमें भ्रष्ट होकर दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता । तो फिर क्या होता है ? वह इस प्रकार यदि ओङ्कारकी केवल एकमात्राका ज्ञाता होकर केवल एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ही अभिध्यान यानी सर्वदा चिन्तन करता है तो वह उस एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारके ध्यानसे ही संवेदित अर्थात् बोध प्राप्त कर तत्काल जगती यानी पृथिवीलोकमें प्राप्त हो जाता है ।

किम् ? मनुष्यलोकम् । अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां सम्भवन्ति । तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्च उपनयन्त उपनिगमयन्ति । ऋच ऋग्वेदरूपा ह्योङ्कारस्य प्रथमैकमात्राभिध्याता । तेन स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्र्यः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति योगभ्रष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति ॥ ३ ॥

[पृथिवीलोकमें] किसे प्राप्त होता है ? मनुष्यलोकको; क्योंकि संसारमें तो अनेक प्रकारके जन्म हो सकते हैं । उनमेंसे संसारमें उस साधकको ऋचाएँ मनुष्यलोकको ही ले जाती हैं, क्योंकि ओङ्कारकी ध्यान की हुई पहली एक मात्रा (अ) ऋग्वेदरूपा है । इससे उस मनुष्य-जन्ममें वह द्विजश्रेष्ठ होकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न हो महिमा यानी विभूतिका अनुभव करता है—श्रद्धाहीन होकर स्वेच्छाचारी नहीं होता । ऐसा योग-भ्रष्ट कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ३ ॥



द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि वह द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारके चिन्तनद्वारा मनसे एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्षस्थित सोमलोकमें ले जाती हैं । तदनन्तर सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर लौट आता है ॥ ४ ॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोङ्कारम् अभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सोमदैवत्ये संपद्यत एकाग्रतयात्मभावं गच्छति स एवं सम्पन्नो मृतोऽन्तरिक्षम् अन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः। स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि वह दो मात्राओं (अ उ) के विभागका ज्ञाता होकर द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारका चिन्तन करता है तो वह सोम ही जिसका देवता है उस स्वप्नात्मक यजुर्वेद-स्वरूप मननीय मनको प्राप्त होता है अर्थात् एकाग्रताद्वारा उसके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है [यानी उसे ही अपना-आप मानने लगता है]। इस अवस्था-में मृत्युको प्राप्त होनेपर वह अन्तरिक्षाधार द्वितीयमात्रास्वरूप सोमलोकमें द्वितीयमात्रारूप यजुः-श्रुतियोंद्वारा सोमलोकको ले जाया जाता है। अर्थात् यजुःश्रुतियाँ उसे सोमलोकसम्बन्धी जन्म प्राप्त कराती हैं। उस सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर मनुष्यलोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

त्रिमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

किन्तु जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट ॐ इस अक्षरद्वारा इस परम-पुरुषकी उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोकको प्राप्त होता है। सर्प जिस प्रकार केंचुलीसे निकल आता है उसी प्रकार वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह सामश्रुतियोंद्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है और इस जीवनघनसे भी उत्कृष्ट हृदयस्थित परम पुरुषका साक्षात्कार करता है। इस सम्बन्धमें ये दो श्लोक हैं ॥ ५ ॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेन ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन, प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतम् ओङ्कारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोङ्कारमिति च द्वितीयानेकशः श्रुता बाध्येतान्यथा यद्यपि तृतीयाभिध्यानत्वेन करणत्वमुपपद्यते तथापि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेया "त्यजेदेकं

परन्तु जो पुरुष इस तीन मात्राओंवाले—तीन मात्राविषयक विज्ञानसे युक्त 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीकरूपसे पर अर्थात् सूर्य-मण्डलान्तर्गत पुरुषका चिन्तन करता है वह उस चिन्तनके द्वारा ही ध्यान करता हुआ तृतीय मात्रारूप होकर तेजोमय सूर्यलोकमें स्थित हो जाता है। वह मृत्युके पश्चात् भी चन्द्रलोकादिके समान सूर्यलोकसे लौटकर नहीं आता, बल्कि सूर्यमें लीन हुआ ही स्थित रहता है। 'परं चापरं च ब्रह्म' इस अभेदश्रुतिद्वारा ओङ्कारका प्रतीकरूपसे आलम्बनत्व बतलाया गया है [ब्रह्मप्राप्तिमें उसका साधनत्व नहीं बतलाया गया]। अन्यथा बहुत-सी श्रुतियोंमें जो 'ओङ्कारम्' ऐसी द्वितीया विभक्ति आयी है वह बाधित हो जायगी।

कुलस्यार्थे" (महा० उ० ३७। १७) इति न्यायेन। स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिवन्न पुनरावर्तते किन्तु सूर्ये संपन्नमात्र एव।

यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति। एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रारूपैरूर्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम्। स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः। स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानाम्, तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः। तस्मात्स जीवघनः। स विद्वांस्त्रिमात्रोङ्काराभिज्ञ एतस्माज्जीवघनाद्धिरण्य-

यद्यपि 'ओमित्येतेन' इस पदमें तृतीया विभक्ति होनेके कारण इसका करणत्व (साधनत्व) मानना भी ठीक है तथापि 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' (कुलके हितके लिये एक व्यक्तिका त्याग कर देना चाहिये) इस न्यायसे प्रकरणके अनुसार इसे 'त्रिमात्रं परं पुरुषम्' इस प्रकार द्वितीया विभक्तिमें ही परिणत कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार पादोदर—सर्प केंचुलीसे छूट जाता है, और वह जीर्ण त्वचासे छूटकर पुनः नवीन हो जाता है, उसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है, वह साधक सर्पकी केंचुलीरूप अशुद्धिमय पापसे मुक्त हो तृतीय मात्रारूप सामश्रुतियोंद्वारा ऊपरकी ओर ब्रह्मलोकको यानी हिरण्यगर्भ—ब्रह्माके सत्यनामक लोकको ले जाया जाता है। वह हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण संसारी जीवोंका आत्मस्वरूप है। वही लिङ्गदेहरूपसे समस्त जीवोंका अन्तरात्मा है। उस लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भमें ही समस्त जीव संहत हैं। अतः वह जीवघन है। वह त्रिमात्र ओङ्कारका ज्ञाता एवं ध्यान करनेवाला विद्वान् इस उत्तम जीवघनस्वरूप

गर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति ध्यायमानः । तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ तथा पुरिशय—सम्पूर्ण शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परमात्मा-संज्ञक पुरुषको देखता है। इस उपर्युक्त अर्थको ही प्रकाशित करनेवाले ये दो श्लोक यानी मन्त्र हैं ॥५॥

ओङ्कारकी तीन मात्राओंकी विशेषता

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

ओङ्कारकी तीनों मात्राएँ [पृथक्-पृथक् रहनेपर] मृत्युसे युक्त हैं। वे [ध्यान-क्रियामें] प्रयुक्त होती हैं और परस्पर सम्बद्ध तथा अनविप्रयुक्ता (जिनका विपरीत प्रयोग न किया गया हो—ऐसी) हैं। इस प्रकार बाह्य (जाग्रत्), आभ्यन्तर (सुषुप्ति) और मध्यम (स्वप्न-स्थानीय) क्रियाओंमें उनका सम्यक् प्रयोग किया जानेपर ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्या ओङ्कारस्य मात्रा मृत्युमत्यो मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः । ता आत्मनो

ओङ्कारकी अकार, उकार और मकार—ये तीन मात्राएँ मृत्युमती हैं। जिनकी मृत्यु विद्यमान है—जो मृत्युकी पहुँचसे परे नहीं हैं अर्थात् मृत्युकी विषयभूता ही हैं उन्हें मृत्युमती कहते हैं। वे आत्मा-

ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः, किं चान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः, अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः, न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः ।

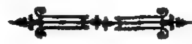
की ध्यानक्रियाओंमें प्रयुक्त होती हैं; और अन्योन्यसक्त यानी एक-दूसरीसे सम्बद्ध हैं [तथा] वे 'अनविप्रयुक्ता' हैं—जो विशेषरूपसे एक विषयमें ही प्रयुक्त हों वे 'विप्रयुक्ता' कहलाती हैं, तथा जो विप्रयुक्ता न हों उन्हें 'अविप्रयुक्ता' कहते हैं और जो अविप्रयुक्ता नहीं हैं वे ही 'अनविप्रयुक्ता' कहलाती हैं ।

किं तर्हि, विशेषेणैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओङ्कारस्येत्यर्थः, न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते । यस्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेण

तो इससे क्या सिद्ध हुआ ? इस प्रकार विशेषरूपसे एक ही बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम तीन क्रियाओंमें यानी ध्यानकालमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी [विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा समष्टिरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—इन तीनों] पुरुषोंके अभिध्यानरूप योगक्रियाओंके सम्यक् प्रयोग किये जानेपर—सम्यग् ध्यानकालमें प्रयोजित होनेपर ज्ञानी—योगी अर्थात् ओङ्कारकी मात्राओंके पूर्वोक्त विभागको जाननेवाला साधक विचलित नहीं होता । इस प्रकार जाननेवाले उस योगीका विचलित होना सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी पुरुष अपने स्थानोंके सहित मात्रात्रयरूप ओङ्कार-

ओङ्कारात्मरूपेण दृष्टाः । स ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ओङ्कारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा ॥ ६ ॥

स्वरूपसे देखे जा चुके हैं । इस प्रकार सर्वात्मभूत और ओङ्कार-स्वरूपताको प्राप्त हुआ वह विद्वान् कहाँसे और किसके प्रति विचलित होगा ? ॥ ६ ॥



ऋगादि वेद और ओङ्कारसे प्राप्त होनेवाले लोक

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

दूसरा मन्त्र उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थका संग्रह करनेके लिये है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

साधक ऋग्वेदद्वारा इस लोकको, यजुर्वेदद्वारा अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस लोकको प्राप्त होता है जिसे विज्ञजन जानते हैं । तथा उस ओङ्काररूप आलम्बनके द्वारा ही विद्वान् उस लोकको प्राप्त होता है जो शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर (श्रेष्ठ) है ॥ ७ ॥

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम् । यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम् । सामभिर्यत्तद् ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसो वेदयन्ते ।

ऋग्वेदद्वारा इस मनुष्योपलक्षित लोकको, यजुर्वेदद्वारा सोमाधिष्ठित अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोकको, जिसे कि कवि, मेधावी अर्थात् विद्वान्लोग ही जानते हैं—अविद्वान् नहीं;

तं त्रिविधं लोकमोङ्कारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान् ।

तेनैवोङ्कारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमत एव अजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमत एव यस्माज्जरादिविक्रियारहितमतोऽभयम्, यस्मादेव अभयं तस्मात्परं निरतिशयम्; तदप्योङ्कारेणायतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

इस क्रमसे ओङ्काररूप साधनके द्वारा ही विद्वान् अपरब्रह्मस्वरूप इस त्रिविध लोकको प्राप्त हो जाता है अर्थात् इन तीनोंका अनुगमन करता है ।

उस ओङ्कारसे ही वह उस अक्षर सत्य और पुरुषसंज्ञक परब्रह्मको प्राप्त होता है जो शान्त अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि विशेषभावसे मुक्त तथा सब प्रकारके प्रपञ्चसे रहित है, इसीलिये जो अजर—जराशून्य अतः अमृत—मृत्युरहित है । क्योंकि वह जरा आदि विकारोंसे रहित है इसलिये अभयरूप है । और अभय होनेके कारण ही पर—निरतिशय है । तात्पर्य यह कि उसे भी वह ओङ्काररूप आलम्बन यानी गमनसाधनके द्वारा ही प्राप्त होता है । मन्त्रके अन्तमें 'इति' शब्द वाक्यकी परिसमाप्तिके लिये है ॥७॥



इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये

पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥



षष्ठ प्रश्न



सुकेशाका प्रश्न—सोलह कलाओंवाला पुरुष कौन है ?

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा—"भगवन् ! कोसलदेशके राजकुमार हिरण्यनाभने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा था—'भारद्वाज ! क्या तू सोलह कलाओंवाले पुरुषको जानता है ?' तब मैंने उस कुमारसे कहा—'मैं इसे नहीं जानता; यदि मैं इसे जानता होता तो तुझे क्यों न बतलाता ? जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह सब ओरसे मूलसहित सूख जाता है; अतः मैं मिथ्या भाषण नहीं कर सकता ।' तब वह चुपचाप रथपर चढ़कर चला गया । सो अब मैं आपसे उसके विषयमें पूछता हूँ कि वह पुरुष कहाँ है ?" ॥ १ ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । समस्तं जगत्कार्यकारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले सम्प्र-

तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा । पहले यह कहा जा चुका है कि सुषुप्तिकालमें विज्ञानात्माके सहित सम्पूर्ण कार्यकारणरूप जगत् अक्षर (अविनाशी) परम पुरुषमें लीन

तिष्ठत इत्युक्तम् । सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे सम्प्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति । न ह्यकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते ।

हो जाता है । इसी नियमके अनुसार यह भी सिद्ध होता है कि प्रलयकालमें भी यह जगत् उस अक्षरमें ही स्थित होता है और फिर उसीसे उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो कारण नहीं है उसमें कार्यका लीन होना सम्भव नहीं है ।

उक्तं च 'आत्मन एष प्राणो जायते' इति । जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः । अनन्तरं चोक्तं 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' इति । वक्तव्यं च क्व तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते । वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोपादानार्थम् ।

इसके सिवा [प्रश्न ३ । ३ में] यह कहा भी है कि 'यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है' तथा सम्पूर्ण उपनिषदोंका यह निश्चित अभिप्राय है कि 'जो जगत्का आदि कारण है उसके ज्ञानसे ही आत्यन्तिक कल्याण हो सकता है ।' अभी [प्रश्न ४ । १० में] यह कहा जा चुका है कि 'वह सर्वज्ञ और सर्वात्मक हो जाता है ।' अतः अब यह बतलाना चाहिये कि 'उस पुरुषसंज्ञक सत्य और अक्षरको कहाँ जानना चाहिये ?' इसीके लिये यह [छठा] प्रश्न आरम्भ किया जाता है । आख्यायिकाका उल्लेख इसलिये किया गया है कि जिससे विज्ञानकी दुर्लभता प्रदर्शित होनेसे मुमुक्षुलोग उसकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न करें ।

हे भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो माम् उपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा इव आत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन् पुरुषे सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज पुरुषं वेत्थ विजानासि। तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति।

एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्। यदि कथञ्चिदहमिमं त्वया पृष्टं पुरुषमवेदिषं विदितवानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः। भूयोऽप्यप्रत्ययमिवालक्ष्य प्रत्याययितुमब्रुवम्। समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा

[अब सुकेशाका प्रश्न आरम्भ होता है-] हे भगवन् ! कोसलपुरीमें उत्पन्न हुए हिरण्यनाभनामक एक राजपुत्रने-जो जातिका क्षत्रिय था मेरे समीप आकर यह आगे कहा जानेवाला प्रश्न किया-'हे भारद्वाज ! क्या तू षोडशकल पुरुषको—जिस पुरुषमें, शरीरमें अवयवोंके समान, अविद्यावश सोलह कलाएँ आरोपित की गयी हों उसे षोडशकल पुरुष कहते हैं ऐसे उस सोलह कलाओंवाले पुरुषको क्या तू जानता है ?' इस प्रकार पूछते हुए उस राजकुमारसे मैंने कहा—'तुम जिसके विषयमें पूछते हो मैं उसे नहीं जानता।'

ऐसा कहनेपर भी मुझमें अज्ञानकी सम्भावना न करनेवाले उस राजकुमारको मैंने अपने अज्ञानका कारण बतलाया—'यदि कहीं तेरे पूछे हुए इस पुरुषको मैं जानता तो तुझ अत्यन्त शिष्यगुणसम्पन्न प्रार्थीसे क्यों न कहता ? अर्थात् तुझे क्यों न बतलाता ?' फिर भी उसे अविश्वस्त-सा देख उसको विश्वास दिलानेके लिये मैंने कहा—'जो पुरुष अपने आत्माको अन्यथा करता हुआ अनृत—अयथार्थ

सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः स परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यत एवं जाने तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं मूढवत्।

स राजपुत्र एवं प्रत्यायितः तूष्णीं व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थासु इत्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव मे हृदि स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥ १ ॥

भाषण करता है वह समूल अर्थात् मूलके सहित सूख जाता है अर्थात् इस लोक और परलोक दोनोंसे ही विलग होकर नष्ट हो जाता है। मैं इस बातको जानता हूँ, इसलिये अज्ञानी पुरुषके समान मिथ्या भाषण नहीं कर सकता।'

इस प्रकार विश्वास दिलाये जानेपर वह राजकुमार चुपचाप—संकुचित हो रथपर चढ़कर जहाँसे आया था वहीं चला गया। इससे यह सिद्ध होता है कि अपने समीप नियमपूर्वक आये हुए योग्य जिज्ञासुके प्रति विज्ञ पुरुषको विद्याका उपदेश करना ही चाहिये तथा सभी अवस्थाओंमें मिथ्या भाषण कभी न करना चाहिये। [सुकेशा कहता है—हे भगवन्!] मेरे हृदयमें ज्ञातव्यरूपसे काँटेके समान खटकते हुए उस पुरुषके विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञातव्य पुरुष कहाँ रहता है?॥१॥

पिप्पलादका उत्तर—वह पुरुष शरीरमें स्थित है

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—'हे सोम्य ! जिसमें इन सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है वह पुरुष इस शरीरके भीतर ही वर्तमान है ॥ २ ॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इति षोडशकलाभिः उपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकलाध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते। प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्ते अविद्याविषयाः । चैतन्या-

उससे उस (पिप्पलादाचार्य) ने कहा—हे सोम्य ! उस पुरुषको यहीं—इस शरीरके भीतर हृदय-पुण्डरीकाकाशमें ही जानना चाहिये—किसी अन्य देश (स्थान) में नहीं, जिस (पुरुष) में कि इन आगे कही जानेवाली प्राण आदि सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है अर्थात् जिससे ये उत्पन्न होती है । इन उपाधिभूत सोलह कलाओंके कारण वह पुरुष कला-हीन होकर भी अविद्यावश कला-वान्-सा दिखलायी देता है । उन औपाधिक कलाओंके अध्यारोपकी विद्यासे निवृत्ति करके उस पुरुषको शुद्ध दिखलाना है इसलिये प्राणादि कलाओंको उसीसे उत्पन्न होनेवाली कहा है, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्त्वमें अध्या-रोपके बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता । इसलिये उसमें कलाओंके अविद्याविषयक उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका आरोप किया जाता है, क्योंकि ये कलाएँ, चैतन्यसे

व्यतिरेकेणैव हि कला जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते ।

अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न स्थित तथा लीन होती देखी जाती हैं ।

आत्मचैतन्ये विकल्पाः

अत एव भ्रान्ताः केचिद् अग्निसंयोगाद् घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यम् एव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति । तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्यपरे । घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्यात्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे । चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः । अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मा एव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १ । १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५ । ३) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "विज्ञानघन एव" (बृ० उ० २ । ४ । १२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्वरूपव्यभिचारिषु

इसीसे कुछ भ्रान्त पुरुषोंका मत है कि 'अग्निके संयोगसे घृतके समान चैतन्य ही प्रत्येक क्षणमें घट आदि आकारोंमें उत्पन्न और नष्ट हो रहा है ।' इनसे भिन्न दूसरों (शून्यवादियों) का मत है कि 'इनका निरोध हो जानेपर सब कुछ शून्यमय हो जाता है ।' तथा अन्य (नैयायिक) कहते हैं कि 'चेतयिता नित्य आत्माकी घटादिको विषय करनेवाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है' तथा लौकायतिकों (देहात्मवादियों) का कथन है कि 'चेतनता भूतोंका धर्म है' । परन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानघन एव' इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति-नाशरूप धर्मसे रहित चेतन ही आत्मा है; वही नाम-रूप आदि औपाधिक धर्मोंसे युक्त भास रहा है । अपने स्वरूपसे व्यभिचारी (बदलनेवाले)

पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वम् ।

पदार्थोंमें चैतन्यका व्यभिचार (परिवर्तन) न होनेके कारण जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार जाना जाता है उसके उस-उस प्रकार जाने-जानेके कारण ही उस-उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है। *

ज्ञेयव्यभिचारेऽपि ज्ञानस्य अव्यभिचारो भवति

वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चित्; न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्, रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा । व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्, ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य । न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्; सुषुप्तेऽदर्शनात् ।

'कोई वस्तुतत्त्व है तो सही किन्तु जाना नहीं जाता' ऐसा कहना तो 'रूप तो दिखलायी देता है परन्तु नेत्र नहीं है' इस कथनके समान अयुक्त ही है। ज्ञेयका तो ज्ञानमें व्यभिचार होता है किन्तु ज्ञानका ज्ञेयमें कभी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि एक ज्ञेयका अभाव होनेपर भी ज्ञेयान्तरमें ज्ञानका सद्भाव रहता ही है; ज्ञानके अभावमें तो ज्ञेय किसीके लिये रहता ही नहीं, जैसा कि सुषुप्तिमें उनका अभाव देखा जाता है।

ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेत् ।

मध्यस्थ—सुषुप्तिमें तो ज्ञानका भी अभाव है; अतः उस समय ज्ञेयके समान ज्ञानके स्वरूपका भी व्यभिचार होता है ?

* जो पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है उसके ज्ञानके प्रकारभेदका कारण तो उपाधि है परन्तु उसमें ज्ञानत्व उस अव्यभिचारी चैतन्यका ही है जो सारी उपाधियोंकी ओटमें उनके अधिष्ठानरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत है। इसीलिये यह कहा गया है कि जो पदार्थ जिस प्रकार भासता है उसके उसी प्रकार भासित होनेसे ही उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है, क्योंकि यदि उसमें चैतन्यका व्यभिचार होता तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता था।

सुषुप्तौ ज्ञानसद्भाव-स्थापनम्

न, ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्यालोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात्स्वव्यङ्ग्याभाव आलोकाभावानुपपत्तिवत्सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः। न ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं वैनाशिकेन।

सिद्धान्ती–ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्ञेयका अवभासक ज्ञान प्रकाशके समान ज्ञेयकी अभिव्यक्तिका कारण है; अतः प्रकाश्य वस्तुओंके अभावमें जिस प्रकार प्रकाशका अभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार सुषुप्तिमें वस्तुओंकी प्रतीति न होनेसे विज्ञानका अभाव मानना ठीक नहीं। अन्धकारमें रूपकी उपलब्धि न होनेपर वैनाशिक [क्षणिक विज्ञानवादी] भी नेत्रके अभावकी कल्पना नहीं कर सकता।

वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति चेत्।

मध्यस्थ–परन्तु वैनाशिक तो ज्ञेयके अभावमें ज्ञानके अभावकी कल्पना करता ही है।

वैनाशिकमत-समीक्षा

येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः।

सिद्धान्ती–उस वैनाशिकको यह बतलाना चाहिये कि जिस [ज्ञान] से ज्ञेयके अभावकी कल्पना की जाती है उसका अभाव किससे कल्पना किया जाता है? क्योंकि उस [ज्ञान] का अभाव भी ज्ञेयरूप होनेके कारण बिना ज्ञानके सिद्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेत्।

मध्यस्थ–ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है, इसलिये ज्ञेयके अभावमें ज्ञानका भी अभाव हो जाता है–ऐसा मानें तो?

न; अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युप-

सिद्धान्ती–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अभाव भी ज्ञेयरूप माना

गम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य । न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किञ्चिन्नश्छिन्नम् ।

गया है। वैनाशिकोंने अभावको भी ज्ञेय और नित्य स्वीकार किया है। यदि ज्ञान उससे [ज्ञेयसे] अभिन्न है तो वह [उनके मतमें भी] नित्य मान लिया जाता है। तथा उसका अभाव भी ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसका अभावत्व नाममात्रको ही रहता है, वास्तवमें ज्ञानका अभावत्व एवं अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। नित्यज्ञानका केवल 'अभाव' नाम रख देनेसे ही हमारा कुछ बिगड़ नहीं जाता।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सन् ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेत् ।

मध्यस्थ—किन्तु यदि अभाव ज्ञेय होनेपर भी ज्ञानसे भिन्न माना जाय तो ?

न तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः ।

सिद्धान्ती—तब तो ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव हो ही नही सकता।

ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेत् ।

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेय ही ज्ञानसे भिन्न माना जाय, ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न न माना जाय तो ?

न; शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः । ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निव्यतिरिक्तः

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि यह कथन केवल शब्दमात्र होनेसे इसमें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम ज्ञान और ज्ञेयकी अभिन्नता मानते हो तो 'ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है किन्तु ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न नहीं है' यह कथन इसी प्रकार केवल शब्दमात्र है जैसे यह मानना

अग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते । ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा ।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेत् ?

न, सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात् । वैनाशिकैरभ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वम् ।

तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेत् ।

न, भेदस्य सिद्धत्वात् । सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्य अभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोः अन्यत्वम् । न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि ।

कि 'वह्नि अग्निसे भिन्न है, परन्तु अग्नि वह्निसे भिन्न नहीं है ।' अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ज्ञेयसे व्यतिरिक्त होनेके कारण ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव नहीं माना जा सकता ।

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेयका अभाव हो जानेपर तो प्रतीत न होनेके कारण ज्ञानका भी अभाव हो जाता है ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें ज्ञप्तिका अस्तित्व माना गया है—वैनाशिकोंने सुषुप्तिमें भी विज्ञानका अस्तित्व स्वीकार किया ही है ।

मध्यस्थ—परन्तु उस अवस्थामें भी ज्ञानका ज्ञेयत्व स्वयं अपनेसे [ज्ञानसे] ही माना जाता है । *

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन [ज्ञान और ज्ञेय] का भेद सिद्ध हो ही चुका है । अभावरूप विज्ञेयविषयक ज्ञान अभावरूप ज्ञेयसे भिन्न होनेके कारण ज्ञेय और ज्ञानकी भिन्नता पहले सिद्ध हो ही चुकी है । उस सिद्ध हुई बातको, मृतकको पुनः जीवित करनेके समान, सैकड़ों वैनाशिक भी अन्यथा नहीं कर सकते ।

* अर्थात् ज्ञान ज्ञानका ही ज्ञेय माना गया है ।

ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेत् ।

पूर्व०—ज्ञानको किसी अन्य ज्ञेयकी अपेक्षा है—यदि ऐसा मानें तो तेरे पक्षमें 'वह ज्ञान किसी अन्यका ज्ञेय है और वह किसी अन्यका' ऐसा माननेसे अनवस्था-दोष होगा ।

न, तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य । यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओंका [ज्ञान और ज्ञेयरूपसे] विभाग किया जा सकता है । जब कि सब वस्तुएँ किसी एकहीकी ज्ञेय हैं तो उनसे भिन्न [उनका प्रकाशक] ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है । यह वैनाशिकोंसे इतर मतावलम्बियोंने दूसरा ही विभाग माना है । इस विषयमें कोई तीसरा विभाग नहीं माना गया । अतः उनके मतमें अनवस्था नहीं आ सकती ।

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत् ।

पूर्व०—यदि ज्ञानको अपनेसे ही ज्ञेय न माना जायगा तो उसके सर्वज्ञत्वकी हानि होगी ।

सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निबर्हणेनास्माकम् । अनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् । अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् । स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या ।

सिद्धान्ती—यह दोष भी उस [वैनाशिक] का ही हो सकता है; हमें उसे रोकनेकी क्या आवश्यकता है ? अनवस्थादोष भी ज्ञानका ज्ञेयत्व माननेसे ही है । वैनाशिकोंके मतमें ज्ञान ज्ञेय तो अवश्य ही है; अतः अपना ही ज्ञेय न हो सकनेके कारण उसकी अनवस्था भी अनिवार्य ही है ।

समान एवायं दोष इति चेत् ।

न, ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः । सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवद् अनेकधावभासत इति । नासौ दोषः । तथा चेहेदमुच्यते ।

ज्ञानावभासस्य औपाधिकमनेकत्वम्

पूर्व०—यह दोष तो तुम्हारे पक्षमें भी ऐसा ही है ।*

सिद्धान्ती—नहीं, ज्ञानका एकत्व सिद्ध हो जानेके कारण [हमारे मतमें ऐसा कोई दोष नहीं आ सकता; हम तो मानते हैं कि] सम्पूर्ण देश, काल और पुरुष आदि अवस्थाओंमें, जलादिमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदिके समान एक ही ज्ञान अनेक प्रकारसे भासित हो रहा है । अतः [हमारे मतमें] यह दोष नहीं है । इसीसे यहाँ यह [कलाओंके प्रादुर्भावकी] बात कही गयी है ।

ननु श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति ।

पूर्व०—परन्तु इस श्रुतिके अनुसार तो पुरुष, कूँडेमें बेरके समान इस शरीरमें ही परिच्छिन्न है ।

न, प्राणादिकलाकारणत्वात् । न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात् । कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य । न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं

आत्मनः अपरिच्छिन्नत्वनिरूपणम्

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पुरुष प्राणादि कलाओंका कारण है; और जो शरीरमात्रसे परिच्छिन्न होगा उसे प्राण एवं श्रद्धादि कलाओंके कारणरूपसे कोई नहीं जान सकता, क्योंकि शरीर तो उन कलाओंका ही कार्य है । पुरुषकी कार्यरूप कलाओंका कार्य होकर शरीर

* क्योंकि ज्ञानको किसीका ज्ञेय न माननेसे उसका व्यवहार ही सिद्ध नहीं हो सकता ।

सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डबदरमिवाभ्यन्तरीकुर्यात् ।

अपने कारणके कारण पुरुषको, कूँडेमें बेरके समान, अपने भीतर नहीं कर सकता ।

बीजवृक्षादिवत्स्यादिति चेत्। यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्रादि तद्वत् पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेत् ।

पूर्व०—यदि बीज और वृक्षादिके समान ऐसा हो सकता हो तो ? जिस प्रकार बीजका कार्य वृक्ष है और उसका कार्य आम्रादि फल अपने कारणके कारण बीजको अपने भीतर कर लेता है उसी प्रकार अपने कारणका कारण होनेपर भी शरीर पुरुषको अपने भीतर कर लेगा—ऐसा मानें तो ?

न; अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च । दृष्टान्ते कारणबीजाद् वृक्षफलसंवृतान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते । बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः सावयवाश्च कलाः शरीरं च । एतेनाकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं

सिद्धान्ती—[पूर्वबीजसे] अन्य और सावयव होनेके कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । दृष्टान्तमें कारणरूप बीजसे वृक्षके फलसे ढँके हुए बीज भिन्न ही हैं, किन्तु दार्ष्टान्तमें तो अपने कारणका कारणरूप वही पुरुष शरीरके भीतर हुआ सुना जाता है । इसके सिवा सावयव होनेके कारण भी बीज और वृक्षादिमें परस्पर आधार-आधेयभाव हो सकता है । किन्तु इधर पुरुष तो निरवयव है तथा कलाएँ और शरीर सावयव हैं । इससे तो शरीर आकाशका भी आधार नहीं बन सकता, फिर

किमुताकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः ।

आकाशके भी कारणस्वरूप पुरुषकी तो बात ही क्या है । इसलिये यह दृष्टान्त विषम है ।

किं दृष्टान्तेन वचनात्स्यादिति चेत् ।

मध्यस्थ—दृष्टान्तसे क्या है ? श्रुतिके वचनसे तो ऐसा ही होना चाहिये ।

न; वचनस्याकारकत्वात् । न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते । किं तर्हि ? यथाभूतार्थद्योतने । तस्मादन्तःशरीर इत्येतद्वचनमण्डस्यान्तर्व्योमेतिवच्च द्रष्टव्यम् ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वचन कुछ करनेवाला नहीं है । किसी वस्तुको कुछ-का-कुछ कर देनेके लिये वचन प्रवृत्त नहीं हुआ करता । तो फिर वह क्या करता है ? वह तो ज्यों-की-त्यों वस्तु दिखलानेमें ही प्रवृत्त होता है । अतः 'अन्तःशरीरे' इस वचनको 'अण्डेके भीतर आकाश' इस कथनके समान ही समझना चाहिये ।

उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च, दर्शनश्रवणमननविज्ञानादिलिङ्गैः अन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चात उच्यतेऽन्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति । न पुनराकाशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न

इसके सिवा उपलब्धिका कारण होनेसे भी [ऐसा कहा गया है] । दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान [जानना] आदि लिङ्गोंसे पुरुष शरीरके भीतर परिच्छिन्न-सा दिखलायी देता है, तथा इस [शरीर] में ही उसकी उपलब्धि भी होती है । इसीलिये यह कहा गया है कि 'हे सोम्य ! वह पुरुष इस शरीरके भीतर है ।' नहीं तो, आकाशका भी कारण होकर वह कूँडेमें बेरके समान शरीरमें परिच्छिन्न है—ऐसी

इति मनसापीच्छति वक्तुं मूढोऽपि किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः ॥ २ ॥

बात कहनेकी तो कोई मूढ पुरुष भी अपने मनसे भी इच्छा नहीं कर सकता, फिर प्रमाणभूता श्रुतिकी तो बात ही क्या है ? ॥ २ ॥

यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च ।

ऊपर 'जिसमें ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं' यह बात पुरुषकी विशेषता बतलानेके लिये कही है। इस प्रकार अन्य अर्थ [यानी पुरुषकी विशेषता बतलाने] के लिये श्रवण किया हुआ वह कलाओंका प्रादुर्भाव किस क्रमसे हुआ होगा यह बतलानेके लिये तथा सृष्टि चेतनपूर्विका है—इस बातको भी प्रकट करनेके लिये अब इस प्रकार कहा जाता है—

ईक्षणपूर्वक सृष्टि

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा और किसके स्थित रहनेपर मैं स्थित रहूँगा ? ॥ ३ ॥

स पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भारद्वाजेन ईक्षांचक्र ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः सृष्टिफलक्रमादिविषयम् । कथम्?

उस सोलह कलाओंवाले पुरुषने, जिसके विषयमें भारद्वाजने प्रश्न किया था, [प्राणादिकी] उत्पत्ति, [उसके उत्क्रमण आदि] फल और [प्राणसे श्रद्धा आदि] क्रमके विषयमें ईक्षण–दर्शन यानी विचार किया । किस प्रकार विचार

इत्युच्यते कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि अहमेवं कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठिते अहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः ।

किया ? सो बतलाते हैं—'किस विशेष कर्ताके शरीरसे उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा तथा इसी प्रकार शरीरमें किसके स्थित रहनेपर मैं भी स्थित रहूँगा' [—यह निश्चय करनेके लिये उसने विचार किया]।

सृष्टौ सांख्यानां प्रधानकर्तृत्वम्

नन्वात्माकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण । तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण ईक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनम्; सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च । न हि चेतनावान्बुद्धिपूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात् । तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेन ईक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्ते-

पूर्व०—[सांख्यमतानुसार] आत्मा अकर्ता है और प्रधान सब कुछ करनेवाला है। अतः पुरुषके लिये उसके [भोग और अपवर्गरूप] प्रयोजनको सामने रख प्रधान ही महदादिरूपसे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणोंके साम्यावस्थारूप एवं सृष्टिकर्ता प्रधानके प्रमाणतः सिद्ध होते हुए तथा [नैयायिकके मतानुसार] ईश्वरकी इच्छाका अनुवर्तन करनेवाले परमाणुओंके रहते हुए एकमात्र होनेके कारण आत्माके कर्तृत्वमें कोई साधन न होनेसे तथा उसका अपने ही लिये अनर्थकारित्व भी सिद्ध न हो सकनेके कारण पुरुषका जो स्वतन्त्रतासे ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व बतलाया गया है वह अयुक्त है; क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाला कोई भी चेतनायुक्त व्यक्ति अपना अनर्थ नहीं करेगा। अतः पुरुषके प्रयोजनसे मानो ईक्षापूर्वक नियमित क्रमसे प्रवृत्त हुए

मानेऽचेतने प्रधाने चेतनवदुपचारोऽयं 'स ईक्षांचक्रे' इत्यादिः। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत्।

अचेतन प्रधानमें चेतनकी भाँति 'उसने विचार किया' इत्यादि प्रयोग औपचारिक है; जैसे राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकको भी 'राजा' कहा जाता है, उसीके समान इसे समझना चाहिये।

सांख्यमत-निरसनम्

न; आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः। यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात्।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि आत्माके भोक्तृत्वके समान उसका कर्तृत्व भी बन सकता है। जिस प्रकार सांख्यमतमें चिन्मात्र और अपरिणामी आत्माका भोक्तृत्व सम्भव है उसी प्रकार श्रुति-प्रमाणसे वेदवादियोंके मतमें उसका ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व भी बन सकता है।

तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तो न चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया। अतः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय। भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्वदोषप्रसङ्ग इति चेत्।

पूर्व०—आत्माका तत्त्वान्तर परिणाम ही उसके अनित्यत्व, अशुद्धत्व और अनेकत्वका कारण है, चिन्मात्र-स्वरूपका विकार नहीं। अतः पुरुषका अपनेमें ही भोक्तृत्व रहनेके कारण उसका चिन्मात्रस्वरूप विकार किसी प्रकारके दोषका कारण नहीं है। किन्तु आप वेदवादियोंके मतानुसार सृष्टिका कर्तृत्व माननेमें तो उसका तत्त्वान्तरपरिणाम ही मानना होगा और इससे आत्माके अनित्यत्व आदि सब प्रकारके दोषोंका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

आत्मनः कर्तृत्वादि-व्यवहारस्य औपाधिकत्वम्

न; एकस्याप्यात्मनोऽविद्यायां विषयनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यत आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवम् इष्यते न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च स्याद् अद्वैतत्वात्सर्वभावानाम् ।

सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितम् एव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वागमबाह्यत्वात्पुनस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते ।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि हम अविद्याविषयक नाम-रूपमय उपाधि तथा उसके अभावके कारण ही एकमात्र [निरुपाधिक] आत्माकी [औपाधिक] विशेषता मानते हैं । बन्ध-मोक्षादि शास्त्रके व्यवहारके लिये ही आत्माका अविद्याकृत नाम-रूप-उपाधिमूलक विशेष माना गया है; परमार्थतः तो अनुपाधिकृत एक अद्वितीय तत्त्व ही मानना चाहिये, जो सम्पूर्ण तार्किकोंकी बुद्धिका अविषय, अभय और शिवस्वरूप है । उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व अथवा क्रिया-कारक या फल कुछ भी नहीं है, क्योंकि सभी भाव अद्वैतरूप हैं ।

परन्तु सांख्यवादी तो पुरुषमें पहले अविद्यारोपित क्रिया, कारक, कर्तृत्व और फलकी कल्पना कर फिर वेदबाह्य होनेके कारण उससे घबड़ाकर पुरुषका वास्तविक भोक्तृत्व मान बैठे हैं । तथा प्रधानको पुरुषसे भिन्न तत्त्वान्तर-भूत परमार्थवस्तु मान लेनेके कारण अन्य तार्किकोंकी बुद्धिके विषय होकर अपने सिद्धान्तसे गिरा दिये जाते हैं ।

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैः । इत्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शित्वात् परमार्थतत्त्वाद्दूरम् एवापकृष्यन्ते । अतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रति आदरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किञ्चिदुच्यते अस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण । तथैतदत्रोक्तम्—

इसी प्रकार दूसरे तार्किक सांख्यवादियोंसे परास्त हो जाते हैं । इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थकी कल्पना कर मांसलोलुप प्राणियोंके समान एक-दूसरेके विरोधी अर्थको ही देखनेवाले होनेसे परमार्थतत्त्वसे दूर ही हटा दिये जाते हैं । अतः मुमुक्षुलोग उनके मतका अनादर कर वेदान्तके तात्पर्यार्थ एकत्वदर्शनके प्रति आदरयुक्त हों—इसलिये ही हम तार्किकोंके मतका किञ्चित् दोष प्रदर्शित करते हैं, तार्किकोंके समान कुछ तत्परतासे नहीं । तथा इस विषयमें ऐसा कहा गया है—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य
विरोधोद्भवकारणम् ।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः
सुखं निर्वाति वेदवित् ॥"
इति ।

"[भेद सत्य है—इस] विरोधकी उत्पत्तिके कारणको विवाद करनेवालोंके ऊपर ही छोड़कर जिसने अपनी सद्बुद्धिको उनसे सुरक्षित रक्खा है वह वेदवेत्ता सुखपूर्वक शान्तिको प्राप्त हो जाता है।"

किं च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः । का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता

इसके सिवा, भोक्तृत्व और कर्तृत्व इन दोनों विकारोंमें कोई अन्तर मानना भी उचित नहीं है । कर्तृत्वसे विजातीय यह भोक्तृत्वविशिष्ट विकार है क्या ? जिससे कि पुरुष भोक्ता ही माना जाता

प्रधानं तु कर्त्रेव न भोक्त्रिति ।

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तरपरिणामेन । प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः ।

सांख्यानां कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपविवेचनम्

नासौ विशेषो वाङ्मात्रत्वात् । प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठत इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधान-

अस्य परिहारः

है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं ?

पूर्व०—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष चिन्मात्र ही है और वह भोग करते समय अपने स्वरूपमें स्थित हुआ ही विकारको प्राप्त होता है—उसका विकार तत्त्वान्तरपरिणामके द्वारा नहीं होता । किन्तु प्रधान तत्त्वान्तरपरिणामके द्वारा विकृत होता है; अतः वह [महत्तत्त्वादि-भेदसे] अनेक, अशुद्ध और अचेतन आदि धर्मोंसे युक्त है, तथा पुरुष उससे विपरीत स्वभाववाला है ।

सिद्धान्ती—यह कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि यह तो केवल शब्दमात्र है । यदि भोगोत्पत्तिके पूर्व केवल चिन्मात्ररूपसे स्थित पुरुषमें भोगकी उत्पत्तिके समय ही भोक्तृत्वरूप कोई विशेषता उत्पन्न होती है और भोगके निवृत्त होनेपर उस विशेषताके दूर हो जानेपर वह फिर चिन्मात्र ही रह जाता है तो प्रधान भी महत् आदिरूपसे परिणत होकर उनसे निवृत्त होनेपर फिर प्रधानरूपसे ही स्थित हो जाता है । अतः इस कल्पनामें कोई विशेषता नहीं है; इसलिये तुम्हारेद्वारा प्रधान और पुरुषके

पुरुषयोर्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते। विशिष्ट विकारकी कल्पना केवल शब्दमात्रसे ही की गयी है।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेत्। *पूर्व०*—ठीक है, परन्तु भोगकालमें भी तो पुरुष पूर्ववत् चिन्मात्र ही है।

न तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य। *सिद्धान्ती*—तब तो परमार्थतः पुरुषका भोग ही सिद्ध नहीं होता।

भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेत्। *पूर्व०*—परन्तु भोगकालमें जो चिन्मात्र पुरुषका विकार होता है वह वास्तविक ही होता है; इससे पुरुषका भोग सिद्ध होता है।

न; प्रधानस्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वम् इति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः। *सिद्धान्ती*—नहीं, भोगकालमें तो प्रधान भी विकारयुक्त होता है, इससे उसके भी भोक्तृत्वका प्रसंग आ जायगा। यदि कहो कि भोक्तृत्व चिन्मात्रके ही विकारका नाम है तो उष्णता आदि असाधारण धर्मवाले अग्नि आदिके अभोक्तृत्वमें भी कोई कारण नहीं दिखलायी देता [क्योंकि जिस प्रकार चेतनता पुरुषका असाधारण धर्म है उसी प्रकार उष्णता आदि उनके असाधारण धर्म हैं]।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेत्। *मध्यस्थ*—यदि प्रधान और पुरुष दोनोंका साथ-साथ भोक्तृत्व माना जाय तो?

न; प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः । न हि भोक्त्रोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतरेतरप्रकाशने ।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इससे प्रधानका पारार्थ्य (अन्यके लिये होना) सिद्ध नहीं होगा । जिस प्रकार एक-दूसरेको प्रकाशित करनेमें दो प्रकाशोंका गौण-मुख्य भाव नहीं बन सकता उसी प्रकार दो भोक्ताओंका भी परस्पर गौण-मुख्य भाव नहीं हो सकता ।

भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेत् ।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि 'भोगधर्मवान् सत्त्वगुणप्रधान चित्तमें जो चैतन्यके प्रतिबिम्बका उदय होना है वही अविकारी पुरुषका भोक्तृत्व है' तो ?

न; पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात् । भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य कस्य अपनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयते । अविद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव न कर्ता प्रधानं कर्त्रेव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो पुरुषकी कोई विशेषता न होनेके कारण उसके भोक्तृत्वकी कल्पना ही व्यर्थ सिद्ध होती है । यदि सर्वदा निर्विशेष होनेके कारण पुरुषमें भोगरूप अनर्थ है ही नहीं तो मोक्षका साधनरूप शास्त्र किस [दोष] की निवृत्तिके लिये रचा गया है ? यदि कहो कि शास्त्ररचना तो अविद्यासे आरोपित अनर्थकी निवृत्तिके लिये है तो 'पुरुष परमार्थतः भोक्ता ही है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं और वह परमार्थतः पुरुषसे भिन्न कोई सद्वस्तु है'

कल्पनागमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नादर्तव्या मुमुक्षुभिः ।

ऐसी कल्पना शास्त्रबाह्य, व्यर्थ और निर्हेतुका है; यह मुमुक्षुओंसे आदर की जानेयोग्य नहीं है ।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेत् ।

मध्यस्थ—परन्तु शास्त्ररचना आदिकी व्यर्थता तो एकत्व माननेमें भी है ।

वेदान्तसिद्धान्ते शास्त्राभावात् शास्त्राभावः

न, अभावात् । सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति तदभाव एवं विकल्पनैवानुपपन्ना ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस समय तो उन (शास्त्रादि) का भी अभाव हो जाता है । शास्त्र-प्रणेता आदि तथा उनके फलेच्छुकोंके रहते हुए ही 'शास्त्ररचना सार्थक है अथवा निरर्थक'—ऐसा विकल्प हो सकता है । आत्माका एकत्व सिद्ध होनेपर तो शास्त्रप्रणेता आदि भी उस (आत्मतत्त्व) से भिन्न नहीं रहते; तथा उनका अभाव हो जानेपर तो इस प्रकारका विकल्प ही नहीं बन सकता ।

अभ्युपगत आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता, तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रम् "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादि ।

इसके सिवा आत्मैकत्वका निश्चय हो जानेपर जिस एकत्वका निश्चय करनेवाले तुमने उसके प्रतिपादक शास्त्रकी अर्थवत्ता भी स्वीकार की है, उस (एकत्व) का निश्चय हो जानेपर भी शास्त्र "जहाँ इसे सब कुछ आत्मरूप ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे ?" इत्यादिरूपसे विकल्पकी असम्भावना ही बतलाता है । तथा

शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २।४।१४) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके।

परमार्थवस्तुके स्वरूपसे अन्यत्र अविद्यासम्बन्धी विषयोंमें "जहाँ द्वैत-सा होता है" आदि बृहदारण्यक-श्रुतिमें शास्त्ररचना आदिकी उपपत्ति भी विस्तारसे बतलायी है।

अत्र च विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्य। अतो न तार्किकवादभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्त इहात्मैकत्वविषय इति।

यहाँ [अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में] तो शास्त्रके आरम्भमें ही परा और अपरारूप विद्या तथा अविद्याका विभाग किया है। अतः वेदान्त-रूपी राजाकी प्रमाणरूपिणी भुजाओंसे सुरक्षित इस आत्मैकत्व-राज्यमें तार्किक-वादरूप योद्धाओं-का प्रवेश नहीं हो सकता।

एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेद-वत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थ-कर्तृत्वादिदोषश्च।

इस प्रतिपादनसे ब्रह्मका सृष्टि आदिके कर्तृत्वमें साधनादिका अभावरूप दोष भी निरस्त हुआ समझना चाहिये, क्योंकि अविद्याकृत नाम-रूप आदि उपाधिके कारण ब्रह्म अनेक शक्ति और साधनजनित भेदोंसे युक्त है; तथा इसीसे हमारे विपक्षियोंका बतलाया हुआ आत्मा-का अपना ही अनर्थ-कर्तृत्वरूप दोष भी निवृत्त हो जाता है।

सृष्टेः चेतनपूर्वकत्व-स्थापनम्

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थ-कारिणि कर्तर्युपचाराद्राजा कर्तेति सोऽत्रानुपपन्नः "स ईक्षांचक्रे" इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाध-

और तुमने जो यह दृष्टान्त दिया कि राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकमें ही 'राजा कर्ता है' ऐसा उपचार किया जाता है, सो यहाँ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे "स ईक्षांचक्रे" इस प्रमाणभूता

नात्प्रमाणभूतायाः । तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य यत्र मुख्यार्थो न सम्भवति । इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालनिमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । यथोक्तसर्वज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना ॥ ३ ॥

श्रुतिका मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है । जहाँ मुख्य अर्थ लेना सम्भव नहीं होता वहीं शब्दकी गौणी कल्पना की जाती है । इस प्रसङ्गमें तो मुक्त-बद्ध पुरुषविशेषकी अपेक्षासे तथा कर्ता, कर्म, देश, काल और निमित्तकी अपेक्षासे पुरुषके प्रति अचेतन प्रधानकी नियत प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, पूर्वोक्त सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता माननेके पक्षमें तो वह उचित ही है ॥ ३ ॥

सृष्टिक्रम

ईश्वरेणेत्र सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते । कथम् ?

राजाके समान पुरुषने ही सर्वाधिकारी प्राणकी रचना की है; किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—]

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः । अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

उस पुरुषने प्राणको रचा; फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको तथा अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकोंको एवं लोकोंमें नामको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणि-

उस पुरुषने उपर्युक्त प्रकारसे ईक्षण कर हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टि प्राणको अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंकी

करणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान् । अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम् । ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत ।

खं शब्दगुणम्, वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम् । तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं शब्दस्पर्शाभ्याम् । तथापो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः । तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी । तथा तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्याकं तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसङ्कल्पलक्षणं मनः ।

इन्द्रियोंके आधारस्वरूप अन्तरात्माको रचा । उस प्राणसे समस्त प्राणियोंकी शुभ कर्मोंमें प्रवृत्तिकी हेतुभूता श्रद्धाकी रचना की । और उससे कर्मफलोपभोगके साधन [शरीर] के अधिष्ठान अर्थात् कारणस्वरूप महाभूतोंकी सृष्टि की ।

सबसे पहले शब्दगुणविशिष्ट आकाशको रचा, फिर निजगुण स्पर्श और शब्दगुणसे युक्त होनेके कारण दो गुणवाले वायुको, तदनन्तर स्वकीय गुण रूप और पहले दो गुण शब्द-स्पर्शसे युक्त तीन गुणवाले तेजको, तथा अपने असाधारण गुण रसके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे चार गुणवाले जलको और गन्धगुणके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे पाँच गुणोंवाली पृथिवीको रचा । इसी प्रकार विषयोंके ज्ञान और कर्मके लिये उन भूतोंसे ही आरब्ध दश संख्यावाले दो प्रकारके इन्द्रियग्रामको तथा उसके स्वामी सङ्कल्पविकल्पादिरूप अन्तःस्थित मनकी रचना की ।

एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं व्रीहियवादिलक्षणमन्नम् । ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम् । तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं सङ्कीर्यमाणानाम् । मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः । ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । ततो लोकाः कर्मणां फलम् । तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि ।

इस प्रकार प्राणियोंके कार्य [विषय] और करणों [इन्द्रियों] की रचना कर उनकी स्थितिके लिये उसने व्रीहियवादिरूप अन्न उत्पन्न किया। फिर उस खाये हुए अन्नसे सब प्रकारके कर्मोंकी प्रवृत्तिका साधनभूत वीर्य—सामर्थ्य यानी बल उत्पन्न किया। तदनन्तर वर्णसंकरताको प्राप्त होते हुए उन वीर्यवान् प्राणियोंकी शुद्धिके साधनभूत तपकी रचना की। फिर जिनके बाह्य और अन्तःकरणोंकी तपसे शुद्धि हो गयी है उन प्राणियोंके लिये कर्मके साधनभूत ऋक्, यजुः, साम और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंकी रचना की और तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्म तथा कर्मोंके फलस्वरूप लोक निर्माण किये। फिर इस प्रकार रचे हुए उन लोकोंमें प्राणियोंके देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम बनाये।

एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार तिमिर-रोगीकी दृष्टिसे रचे हुए द्विचन्द्र, मशक (मच्छर) और मक्षिका आदि तथा स्वप्नद्रष्टाके बनाये हुए सब पदार्थोंके समान प्राणियोंके अविद्या आदि दोषरूप बीजकी अपेक्षासे रची हुई ये कलाएँ अपने नाम-रूप आदि विभागको त्यागकर उस पुरुषमें ही लीन हो जाती हैं ॥ ४ ॥

नदीके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण जगत्का पुरुषाश्रयत्वप्रतिपादन

कथम्— | किस प्रकार ?

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

वह [दृष्टान्त] इस प्रकार है—जिस प्रकार समुद्रकी ओर बहती हुई ये नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर अस्त हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं। इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ, जिनका अधिष्ठान पुरुष ही है, उस पुरुषको प्राप्त होकर लीन हो जाती हैं। उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'पुरुष' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं। वह विद्वान् कलाहीन और अमर हो जाता है। इस सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

स दृष्टान्तो यथा लोक इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं गतिः आत्मभावो यासां ता समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति । तासां

वह दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार लोकमें निरन्तर प्रवाहरूपसे बहनेवाली तथा समुद्र ही जिनका अयन—गति अर्थात् आत्मभाव है ऐसी ये समुद्रायण नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर अस्त—अदर्शन अर्थात् नाम-रूपके तिरस्कार [अभाव] को प्राप्त हो जाती हैं, तथा इस प्रकार अस्त

चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे। तदभेदे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणम् ।

हुई उन नदियोंके वे गङ्गा-यमुना आदि नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं और उससे अभेद हो जानेके कारण वह जलमय पदार्थ भी 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारा जाता है ।

एवं यथायं दृष्टान्तः उक्तलक्षणस्य प्रकृतस्यास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद् द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथार्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता सर्वतः तद्वदिमाः षोडश कलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं गच्छन्ति। भिद्येते चासां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम् । भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः ।

इसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है, उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त परिद्रष्टा अर्थात् जिस प्रकार सूर्य सब ओर अपने स्वरूपभूत प्रकाशका कर्ता है उसी प्रकार परि—सब ओर द्रष्टा—दर्शनके कर्ता स्वरूपभूत इस प्रकृत [जिसका प्रकरण चल रहा है] पुरुषकी ये प्राण आदि उपर्युक्त सोलह कलाएँ, जिनका अयन—आत्मभावकी प्राप्तिका स्थान वह पुरुष ही है जैसा कि नदियोंका समुद्र, अतः जो पुरुषायण कहलाती हैं, उस पुरुषको प्राप्त होकर—पुरुषरूपसे स्थित होकर उसी प्रकार [जैसे कि समुद्रमें नदियाँ] लीन हो जाती हैं । तथा इन कलाओंके प्राणादिसंज्ञक नाम और अपने-अपने विभिन्न रूप नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार नाम-रूपका नाश हो जानेपर भी जिसका नाश नहीं होता उस तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।

य एवं विद्वान्गुरुणा प्रदर्शित-कलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्म-जनितासु प्राणादिकलास्वकलः, अविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युः तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः ॥५॥

इस प्रकार जिसे गुरुने कलाओंके प्रलयका मार्ग दिखलाया है ऐसा जो पुरुष इस तत्त्वको जाननेवाला है, वह उस विद्याके द्वारा अविद्या, काम और कर्मजनित प्राणादि कलाओंके लोप कर दिये जानेपर निष्कल हो जाता है, और क्योंकि मृत्यु भी अविद्याकृत कलाओंके कारण ही होती है इसलिये उनकी निवृत्ति हो जानेपर वह निष्कल हो जानेके कारण ही अमर हो जाता है। इसी सम्बन्धमे यह श्लोक प्रसिद्ध है—॥ ५ ॥



मरण-दुःखकी निवृत्तिमें परमात्मज्ञानका उपयोग

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

जिसमे रथकी नाभिमें अरोंके समान सब कलाएँ आश्रित हैं उस ज्ञातव्य पुरुषको तुम जानो, जिससे कि मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके ॥६॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथा प्रवेशितास्तदाश्रया भवन्ति यथा तथेत्यर्थः; कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु

रथके पहियेके परिवाररूप अरोंके समान—अर्थात् जिस प्रकार वे रथके पहियेकी नाभिमें प्रविष्ट यानी उसके आश्रित रहते है उसी प्रकार जिस पुरुषमें प्राणादि कलाएँ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय स्थित रहती हैं, कलाओंके

तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात् पुरुषं पुरि शयनाद्वा वेद जानीयात्; यथा हे शिष्या मा वो युष्मान्मृत्युः परिव्यथा मा परिव्यथयतु । न चेद्विज्ञायेत पुरुषो मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ । अतस्तन्मा भूद्युष्माकमित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

आत्मभूत उस ज्ञातव्य पुरुषको, जो सर्वत्र पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष कहलाता है, जानो; जिससे कि हे शिष्यो ! तुम्हें मृत्यु सब ओरसे व्यथित न करे । यदि तुमने उस पुरुषको न जाना तो तुम मृत्युनिमित्तक व्यथाको प्राप्त होकर दुःखी ही होगे । अतः तुम्हें वह दुःख प्राप्त न हो, यही इसका अभिप्राय है ॥ ६ ॥



उपदेशका उपसंहार

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

तब उनसे उस (पिप्पलाद मुनि) ने कहा—इस परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ । इससे अन्य और कुछ [ज्ञातव्य] नहीं है ॥७॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यांस्तान् होवाच पिप्पलादः किलैतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत् । नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवाञ्शिष्याणामविदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कृतार्थबुद्धिजननार्थं च ॥ ७ ॥

उन शिष्योंको इस प्रकार शिक्षा दे पिप्पलाद मुनिने उनसे कहा—'उस वेद्य (ज्ञातव्य) परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ । इससे पर—उत्कृष्टतर और कोई वेद्य नहीं है ।' इस प्रकार 'अभी कुछ बिना जाना रह गया' ऐसी शिष्योंकी आशङ्काकी निवृत्तिके लिये तथा उनमें कृतार्थबुद्धि उत्पन्न करनेके लिये पिप्पलादने उनसे कहा ॥ ७ ॥

स्तुतिपूर्वक आचार्यकी वन्दना

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

तब उन्होंने उनकी पूजा करते हुए कहा—आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने कि हमें अविद्याके दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; आप परमर्षिको हमारा नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥ ८ ॥

ततस्ते शिष्या गुरुणानुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च शिरसा। किमूचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याभयस्य। यस्त्वमेव अस्माकमविद्याया विपरीतज्ञानात् जन्मजरामरणरोगदुःखादिग्राहादपारादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं

तब गुरुसे उपदेश पाये हुए उन शिष्योंने कृतार्थ हो, उस विद्यादानका कोई अन्य प्रतिकार न देखकर क्या किया सो बतलाते है—उन्होंने गुरुजीका अर्चन अर्थात् चरणोंमें पुष्पाञ्जलिप्रदान एवं शिर झुकाकर प्रणाम करके उनका पूजन करते हुए [कहा]। क्या कहा, सो बतलाते हैं—'विद्याके द्वारा हमारे नित्य, अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्मशरीरके जनयिता होनेके कारण आप तो हमारे पिता हैं; जिन आपने विद्यारूप नौकाके द्वारा हमें विपरीत ज्ञानरूप अविद्यासे अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग और दुःख आदि ग्राहोंके कारण जो अपार है उस अविद्यारूप समुद्रसे उस ओर महासागरके

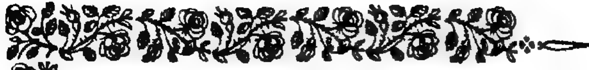
मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयस्यस्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान् प्रत्युपपन्नमितरस्मात् । इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति । तथापि स प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः । नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम् ॥ ८ ॥	पर पारके समान अपुनरावृत्तिरूप मोक्षसंज्ञक दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; अतः आपका पितृत्व तो अन्य (जन्मदाता) पिताकी अपेक्षा भी युक्ततर है; क्योंकि दूसरा पिता भी केवल शरीरको ही उत्पन्न करता है, तो भी वह लोकमें सबसे अधिक पूजनीय होता है; फिर आत्यन्तिक अभयप्रदान करनेवाले आपके पूजनीयत्वके विषयमें तो कहना ही क्या है ? अतः ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायके प्रवर्तक परमर्षिको नमस्कार हो । यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यः' इसकी द्विरुक्ति आदर-प्रदर्शनके लिये है ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥





शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-

र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

